ॐः ।

श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी जैन धर्मानुयायीओं को
अवश्य जानने योग्य.

ऐतिहासिक नोंध.

विविध साधनों पर से अहमदाबाद निवासी
ह वाडीलालजी मोतीलालजी ने गुर्जर
भाषा में लिखा.

और

एक 'भारतवासी' ने हिंदी अनुवाद किया

प्रसिद्ध कर्ता—
मुल्तानमल हीराचन्द धारीवाल रतनरायपुर सी.पी.
ने जैन पाठशाला के सहायतार्थ
छपवाई.

द्वितीय आवृत्ती १८५० | वीर. स० २४५१ वि० स० १९८२ | मूल्य ।=)

सुन्दर छपाई न होने से मूल्य केवल =।) आने

" जीवन चरित महापुरुषों के
हमें नसीहत करते हैं—
हम भी अपना अपना जीवन
स्वच्छ रम्य कर सकते हैं।
हमें चाहिए हम भी अपने
बना जांय पद—चिन्ह ललाम
इस जमीनकी रेती पर जो
वक्त पड़े आवें कुछ काम।
देख देख जिनको उत्साहित
हों पुनि वे मानव मति धर
जिन की नष्ट हुई हो नौका
चट्टानों से टकरा कर।
लाख लाख संकट सह कर भी
फिर भी हिम्मत बांधें वे
जाकर मार्ग मार्ग पर अपना
'गिरिधर' कारज साधें वे॥ "

LONGFELLOW.

॥ श्री शान्तिनाथाय नमः ॥

प्रथम हिन्दी आवृत्ति का।

उपोद्घात.
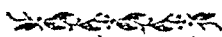
प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि अपने धर्म का तत्व थोड़ा भी जान लेना. उसके साथ अपना धर्म कबसे शुरु हुआ, पहले के ज़माने में कैसे प्रतापी पुरुष हो गये, उस धर्म की दशा में किस तरह सुधारा या बिगाड़ा हुआ, उस धर्मके गर्भ शत्रु जो जो बात निन्दा के लिए कहते हैं उसमें सच्चाईका कितना अंश है, यह सब बातें प्रत्येक मनुष्को जानना ही चाहिए।

परन्तु अफ़सोस की बात है कि ये सब बातें जानने के साधन श्री श्वेताम्बर साधूमार्गी जैनों के लिए बहुत थोड़े हैं और लोगों को 'सूत्र' पढ़नेकी शक्ति या फुरसत भी नहीं है;

अत एव मैंने मेरे गुजराती "जैनहितेच्छु" मासिक पत्र में ४-५ वर्ष पहले एक लेख प्रगट किया था, जिस में उपरोक्त बातों का अति संक्षेप में समावेश किया गया था. फिर गुजरात-काठियावाड़-मालवा-मारवाड़-पंजाब-दक्षिण वगैरह के मुनिराजों व श्रावकों की तर्फ से पटावली की कइ प्रतें मुझे मिली और पंजाब जाने का मोका भी मिल गया. पंजाब में परमपूज्य श्री सोहनलालजी महाराज साहब की कृपा से पंजाब की पटावली का पत्ता मिला. उन सब साहित्यों पर से मैंने जैन इतिहास की नोंध तैयार कर ली. और गुजरात के एक छोटे से ग्राम (विसलपुर) की जैनशालाके लाभार्थ एक महाशयने उस पुस्तक को ४००० प्रत छपवा कर १०४ बड़े पृष्टका पुस्तक सिर्फ तीन आने दाममें बेचना शुरु किया. उसका प्रचार सारे हिंदके जैनों में थोड़े ही वक्तमें हुआ और गत पर्युषण में तो कई मुनिराजों ने व्याख्यान में उसी ग्रंथ को पढ़ कर सुनाया. परन्तु मंदीरमार्गीयों के धर्मगुरु वल्लभ-विजय कि जो 'निंदा को ही धर्म' समझते हैं और खूनी को जैसे स्वप्न भी खूनके ही आते है इसी तरह जो स्वप्नमें भी ऐसा देखते हैं कि सब लोग उनकी निंदाके लिए ही

कोशीश कर रहे हैं, उन्होंने 'जवाबदावा' नामका एक ५-७ पृष्टका 'गटर क्लास' पेम्फलेट प्रसिद्ध किया, जिसमें वह खुद आपको ही 'शठ' कहते हैं और उनको कॉन्फरन्स के सब लोगों को 'धूर्त' कहते हैं तो भी उनको कॉन्फरन्स के आंखों के पटल न खुलते उलटे हमारे पुस्तक के बारे में श्री साधुमार्गी कॉन्फरन्स को फर्याद किया है. हम एसे लोगों को अपने मुंह से जवाब दें अर्थात् हमारे बनाये पुस्तकके बारे में हम ही खुद निर्दोषता जाहिर करे इससे उत्तम बात तो यह है कि जनता खुद वह पुस्तक लक्षपूर्वक पढ़ लेवें और अपना नेक अभिप्राय जाहिर करे. इस लिए हमने सोचा कि उस पुस्तककी हिंद्री आवृत्ति तैयार करके जलदी छपाजाय, ताकि सारे हिंद के जैन उसके गुण-दोष अपने आप ही देख लें.

इस पुस्तक में किस किस बातका समावेश किया गया है है उस का कुछ ख्याल देना आवश्यक हैं। पहले प्रकरण में "धर्म" क्या चिज है, जैन धर्म' कैसा है, 'साधुमार्गी जैन धर्म की सच्चाई का सबूत क्या है: इत्यादि बातों का

समावेश अति संक्षेप में हो जाता है. दूसरे प्रकरण से इतिहास शुरु होता है, जिस में श्री महावीर प्रभु से श्रीमान् लोंकाशाह तकका इतिहास जैसा मुझे मिला वैसा दिया गया है. फिर आगे लोंकाशाह के वक्त से आज तक का इतिहास दिया गया है. सब समुदायों का संक्षिप्त बयान उसमें आ जाता है. और श्री संघ के हितार्थ सुधार के कई मार्ग भी दर्शाये गये हैं. इस पुस्तक के प्रचार से प्रत्येक साधुमार्गी जैन अपने मजहब में ज्यादातर दृढ़ बनेगा और जो लोग स्वधर्म से च्युत हुए हैं पुनः उस धर्म में प्रवेश करेंगे।

पुस्तक मिलने का पता।

पुनमचन्द खींवसरा।

जैन पाठशाला।

भिचड़ली मोहल्ला।

(ब्यावर)

श्री गणेश प्रिंटिंग प्रेस ब्यावर में छपा।

प्रकाशक का वक्तव्य ॥

अपने कर्तव्य पथ पर दृढ़ता से अग्रसर होने के लिए यह अति आवश्यक है कि मनुष्य अपने पूर्व पुरुषों के इतिहास से परिचय प्राप्त करलें। इस पुस्तक के पठन से हमें ज्ञात होगा कि हमारे पूर्व पुरुषों ने किस २ भांति अनेक कष्टों पर कष्ट, अनेक अत्याचार सहे तिस पर भी अपने धर्म मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं हो अपना आत्म कल्याण कर संसार के सन्मुख कितना प्रशंसनीय उदाहरण रख दिया है।

अति कष्ट द्वारा अनेक स्थानों से संग्रह कर भाई बाडीलालजी शाह ने जो निरपक्ष दृष्टि से एसी अमुल्य पुस्तक को लिख जो समाज का अति हित किया है उसके लिए हम उन का अति आभार मानते हुवे उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं ॥

रत्न रायपुर और बगड़ी, } चतुर्विधि संघ का सेवक, प्रकाशक.

प्रकरण १.

धर्म सम्बन्धी सामान्य विचार.

धर्म तत्त्व वास्तव में सच है या कल्पना मात्र अथवा भ्रमजाल है, मैं इस पचडे को छेड़ना नहीं चाहता। 'तर्क' का नहीं; परन्तु 'अनुभव' का यह विषय है। मैं स्वयं एक समय धर्मों की परस्पर विरुद्धता और धर्म के नाम से होने वाले क्लेशों को देख कर यों मानता था कि, "एक और एक दो" यह बात सच है तो इसमें दो मत होते ही नहीं हैं; इसी तरह यदि धर्म सच्चा हो तो उसमें भिन्नमत होवे ही क्यों कर? और धर्म के सिवाय और सब वस्तु डुबोने वाली और सिर्फ धर्म ही तिरानेवाला हो तो धर्म के नाम से क्लेश क्यों होते हैं? इन इन विचारोंने मुझे धर्म की सत्ता या उसके मोक्षफल देने की सत्ता में श्रद्धाहीन कर दिया था. परन्तु 'अनुभव' ने मुझे सिखला दिया कि, जैसे गणितविज्ञान

सर्वथा सत्य है, एक और एक दो ही होंगे, पांच और पांच दस ही होंगे—कम या जियादा नहीं—तौ भी इस बात को पागल, मदोन्मत्त, नशे में चूर, बालक और जंगली मनुष्यः इतने आदमी ठीक नहीं समझते हैं, वैसे ही गूंगा इस बात को जानता हुआ भी कि पांच और पांच दस ही होते हैं बतला नहीं सक्ता, कहीं कहीं पर अच्छा गणितज्ञ (गणित विद्या का ज्ञानकार) बनिया स्वार्थ के कारण बेसमझ ग्राहकको लेनदेन में उलटा सीधा समझा कर पांच और पांच बारह भी कह देता है ! इन सब उदाहरणों से सिद्ध होता है कि (१) कर्मका परदा हमारी आंखों पर गिर जाता है और वह हमें धर्म तुल्य सत्य पदार्थ को नहीं देखने देताः (२) या तो प्रवृत्ति की घुमेरी धर्मका रूप और ही कर दिखाती है; (३) या तो ' धर्मोपदेशक '—' पूज्यपाद '-'जगद्गुरु ' इत्यादि पदवीके लोभ से धर्म का सत्य स्वरूप थोड़ा बहुत जानने पर भी कुछ का कुछ कह डालते हैं; और (४) जो केवल आत्मज्ञानी हो गये हैं वे आत्मानन्द का अनुभव करते हुए चुप ही रहते हैंः उनको इस बात से कोई मतलब नहीं कि दुनियां पांच और पांच दस कहती है

या बारह. चाहे जो कुछ हो—कोई कुछ भी कहे ' पांच और पांच दस ' यह ' सत्य ' तीनों काल में कायम रहेगा ।

दूसरा अनुभव मुझे यह हुआ कि जब हृदय विदारक संकटकका प्रसंग आया तब मुझे पुनर्जन्मके सिद्धान्तसे सहनशीलता मिली कर्मके सिद्धान्त की विचारणासे शान्ति मिली भक्ति के विचारोंने हिम्मत बढाई ओर धर्मके विचारोंने सुख दुःख व लाभालाभ के ख्याल से अलिप्त रह कर प्रवृत्ति करने का सर्मथ्य दिया । तब से मैं ' धर्म ' के अस्तित्व में श्रद्धा करने लगा था, तो भी मुझे संदेह होता था कि ऐसा सुखदाता धर्म किसी भी भांति किसी को भी दुःख और क्लेश का कारण क्यों कर होता है ? इस सन्देह का समाधान भी एक बार हुआ. सूर्य से अन्न पकता है, मन प्रफुल्लित होता है और अनेक और २ लाभदायक काम होते हैं तो दूसरी और सूर्य से ही उल्लू, चिमगादड़, वागल (Bat) आदि दुःखी भी होते हैं । मालूम होता है कि सूर्य स्वयं किसीको हानि या लाभ नहीं पहुंचाता, बल्कि उसका धर्म प्रकाशित रहता है; उसके प्रकाश से प्रथक् २ क्षेत्र—काल-द्रव्य

और भाव में आये हुए प्राणी या पदार्थ लाभालाभ पाते हैं. इसी भांति धर्म सत्य रूप है वह किसीको लाभ अलाभ पहुंचाने को नहीं जाता है, उल्लू कीसी अंध दशा में हुए मनुष्य को यदि धर्म दुःख दायक हो तो इस में न धर्म का दोष है और न मनुष्य का; यह सब उसके पूर्व जन्म के कर्मों का दोष है, कि जिनके प्रभाव से वह धर्म को प्रत्यक्ष नहीं कर सक्ता. और जो धर्म के नाम पर झगड़े होते हैं यह धर्म का दोष नहीं है परन्तु 'मतों' ओंकी खैंचातान का परिणाम है. 'धर्म' और 'मत' का भेद समझने लायक है. 'धर्म' शब्द उन सत्यों की सूचना करता है कि जो कभी तबदील नहीं किये जा सकते हैं; 'मत' अनेक महापुरुषों के चलाये हुए उन २ नियमों को बतलाता है कि जिन २ नियमों पर धर्म को व्यवहार में लाने की चेष्टा की गई है. ये कायदा–नियम सर्व मनुष्यों के लिए या एक मनुष्य के भी सर्व एक से नहीं होते परन्तु एक को जो नियम अमृततुल्य होता है वह दुसरे को कभी विष तुल्य भी होता है. ऐसा होने से, यदि अमृत को विष कहने वाले के साथ अमृत मानने वाला झगड़ा करे और विष को अमृत कहने वाले के साथ विष मानने वाला

लड़ने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसीका नाम 'मत' और इसीका नाम 'मतवाले मनुष्य' है.

मैं यह यद्यपि कह नहीं सकता कि सब मतों में सत्य ही को लक्ष्य बनाया गया है तो भी इतना तो मुझे मालूम हुआ है कि बहुत से मत देशकालादि के—और मतों की अपेक्षा—अनुकूल हैं और इसी से उनका जन्म हुआ है. चीनी लोगों के अफीम विना नहीं सरता; उनको अफीम पान सुपारी जैसा प्रिय है; परन्तु औरों को अफीम विष समान होता है. कोई कल्पनाशक्ति (Imagination) के आशक्त हैं, कोई केवल सत्य के ग्राहक हैं, कोई कल्पनाशक्ति और सत्य के मिश्रण को पसंद करते हैं. इन्ही भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों ने भिन्न २ मत पैदा किये हैं और उन्हें उन २ प्रकृति के अनुयायी भी मिल गये। इस तरह 'मत' उत्पन्न हुए और बढ़े। जिसको उत्पत्ति है उसको दर्द भी होता है, दर्द दफा होकर तंदुरस्त बनना भी होता है। इसी लिये कहा जा सकता कि 'धर्म' या 'अक्षय सत्यका समूह' कभी नया नहीं उत्पन्न होता। वह 'अनादि' और 'अनन्त' है। न उ-

सको जवानी है और न जरा। इसे सिर्फ दो आदमी समझे और माने तो इससे इसकी (धर्म की न कि मत की) कुछ गिरी हुई दशा नहीं कही जाती; और न पांच परार्ध आदमियों के मानने से उन्नति। टाइम, मानने वालों की संख्य या हरकोई ऐसे विषय पर धर्म की परीक्षा करना भूल है, क्योंकि ' धर्म ' सदा एक रूप है। परन्तु मत (फिर वें साधुमार्गी--स्थानकवाशी जैन हो, मंदीरमार्गी--देहेरावासी जैन हो, दिगम्बर हो, रोमन केथलिक हो प्रोटेस्टण्ट हो, शिया हो, सुन्नी हो, बुद्ध हो, ब्रह्मवादी हो, कोई हो) एक न एक दिन अवश्य उत्पन्न हुए हैं और वे बाल, वृद्धि और जरा मरण के चक्र से न्यारे--नहीं हैं. जब इन सब मतों का नाश हो जायगा तब भी ' धर्म ' तो जीता जागता मोजूद ही रहेगा।

इस तरह धर्मके आस्तित्व में मुझे संदेह था वह दूर हो गया और धर्म मुझे--'कूपर' के शब्दो में कहूं तो--

" Mcre Precious than silver and gold, ', Or all this earth can offord „

अर्थात् चांदी—सोना और पृथ्वी की सारी सम्पत्ति से विशेष तर मूल्यवान जान पड़ा; क्यों कि चांदी—सोना और पृथ्वी जो कुछ सम्पत्ति दे सक्ती है वे सब चल (Mutable) हैं और 'धर्म' निश्चल अमर—अजर—सनातन है

ऐसे अजर—अमर धर्म में किसी भांति का भ्रम—जिसे जैन ' मिथ्यात्व ' और अंग्रेज ' सुपरस्टीशन (Superstition), कहते हैं—होई नहीं सकता. ऐसे धर्म को अमुक मत के ही मनुष्य जानते हैं या जान सकते हैं यह किसी तरह नहीं कहा जा सकता. इसके तत्व थोड़े और बहुत सब जगह बिखरे हुएं हैं. प्रोफेसर जोन् विलियम ड्रेपर M. D. L. L. D. जैनियों या वेदान्तियों से हजारों कोस दूर रहते हुए. और उनकी संगति का लाभ उठाये बिना भी कहते हैं:—

"Every appetite, springs from imperfect knowledge. Our nature is imposed upon us by Fate, but we must earn to control our passions, and live free, intelligent, virtuous, in all things, in accordance with reason. Our existence should be intellectual, we should survey with

equanimity all pleasures and all pains. We should never forget that we are freemen, not the slaves of Society. We must remember that everything around us is in mutation; decay follows reproduction, and reproduction decay, and that it is useless to repine at death in a world cataract shows from year to year an invariable shape, though the water composing it is perpetually changing, so the aspect of Nature is nothing more than a flow of matter presenting an impermanent form.

"We must bear in mind that the majority of men are imperfectly educated, and hence we must not needlessly offend the religious ideas of our age. It is enough for us ourselves to know that, though there is a *Supreme Power, there is no Supreme Being.* There is an invisible principle, but not a personal God, to whom it would be not so much blasphemy as absurdity to impute the form, the sentiments, the passions of man. That which men call *chance* is only the effect of an unknown cause. Even of chances there is a law. There is no thing as providence, for Nature proceeds under-irresistible laws and in this respect the universe is only a vast automatic engine. The vital force which pervades the world is what the illeterate call God. The modifications through which all things are running take place in an irresistible way, &c. &c. &c."

प्रोफेसर विलियम ड्रेपर के लिखने का भावार्थ यह है कि प्रत्येक भूख, हरेक विकार, कोई भी इच्छा ज्ञान की अपूर्णता से उत्पन्न होती है (—ज्ञान अधूरा हो तो ही इच्छा या विकार पैदा होते हैं) पूर्वोपार्जित कर्मों के प्रभाव से हमे अपना स्वभाव मिला है तो भी हमें अपने मन को वशमें रखना चाहिए. (इस में कर्म को प्रधानता देने पर भी पुरुषार्थ की हिमायत की है) और हमें प्रत्येक बात में स्वतन्त्र, बुद्धियुक्त, सद्गुणशाली और न्यायपूर्ण चारित्र रखना चाहिये. हमारा जीवन सज्ञान होना चाहिए. हमें सुख और दुःख पर समभाव से मनन करना चाहिए. हमें कभी न भूल जाना चाहिए कि हम स्वतन्त्र पुरुष हैं. आजाद आदमी हैं, न कि लोगों के गुलाम दास. हमें याद रखना चाहिए कि हमारे आस पास के प्रत्येक पदार्थ का रूपान्तर हुआ करता है. वस्तु उत्पन्न होती है, बिगड़ती है, मिटती है. अतएव सबकी मृत्यु है तो हमें मौत का सोच ही करना योग्य नहीं है. जैसे किसी पहाड़ में से श्रोत बहता हो तो नवीन २ जल आते रहने पर भी रूप एकसा देख पड़ता है वैसे ही प्रकृति का दिखाव पलटते हुए परमाणुओं के सिवाय कुछ नहीं है ॥

" हमें यह भूल जाना न चाहिए कि मनुष्यों का एक बड़ा हिस्सा अर्द्धशिक्षित है; अतएव हमें उनके धर्म सम्बन्धं विचारों के विषय में उन्हें व्यर्थ दुःख न पहुंचाना चाहिए हमें अपने लिए इतना अवश्य जान रखना चाहिए कि एक सत्ता सर्वोपरि है--एक महत्ती शक्ति (Power) है जो कि सर्वोपरि प्राणी [Being] है नहीं, परन्तु अदृश्य तत्त्व जरूर है. प्रभु पुरुष का ऐसा नहीं है इस लिए उस में मनुष्य का सा रूप, मनुष्य के से विचार और विकार स्थापन करना उसका अपमान करने के बराबर है, सिर्फ यही नहीं महा मूर्खता भी है। जिस बात को मनुष्य कर्म अथवा नसीब कहते हैं वह और कुछ नहीं है केवल अज्ञात कारणों का परिणाम है। इन कर्मों के भी नियम हैं. कर्ता कोई है ही नहीं क्योंकि कुदरत अनिवार्य (Irresistible) नियमानुसार ही चल रही है। इस बात के देखने से ज्ञान होता है कि विश्व अपने आपसे चलता हुआ एक बड़ा एंजिन है। जो चैतन्य [Vitalforce] सर्वत्रव्यापक है उसी को अल्पमति मनुष्य ईश्वर--प्रभु कहते हैं "।

ये विचार मुझे तो ' धर्म ' के ज्ञान पड़ते हैं, अनादि

और अनन्त प्रकृति मंडल में फिर चाहे मेरे ज्ञानान्तरायी कर्म मुझे और का और ही वतला रहे हों। और इसी से मैं यों मानता हुं कि देवको पूजा प्रतिष्ठा मान मर्यादा में से किसी की जरूरत नहीं है, और न वह किसो से कुछ लेता है. देव के नाम से जो मानता [सेशवत ?] धाम धूम से को जाती है वह भ्रम है. मिथ्यात्व है, [Suporatiton] है! मनुष्य देह पाकर हमें चाहिए कि हम सुकृत्य करें, सद्विचार विचारें, हमें जिस सत्व में मिलना है उस में मिले हुए सज्जन महानुभावों के चरित्र पर विचार करें। यही कर्तव्य है. इस कर्तव्य को पालन करने वाले मनुष्यों के दो भेद हैं; अर्थात् एक साधारण शक्ति वाले—जो कितने ही अंश में धर्मिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं ऐसे सम्यक्त्व धारी संसारी और दूसरे सर्वांश में धर्ममय जीवन रखने वाले साधु, जो १७ भेद से संयम का पालन करते हैं।

षड्दर्शन में कौन सर्वश्रेष्ट है मैं इस वाद में नहीं पड़ूंगा परन्तु ऊपर लिखे हुए सत्य के जैन दर्शन बहुत अनुकूल है इससे मैं इसी को मानकर इसी धर्म सम्बन्धी कुछ कहूंगा।

ऐसा करने से यदि और दर्शन के ज्ञानीयों को बुरा मालूम हो तो मैं पहले से ही क्षमा चाहता हूं ।

जैन धर्म के साधु मन, वचन, काया से हिंसा नहीं करते, न कराते हैं और न करने वाले का अनुमोदन करते हैं। जैन धर्म का यह सिद्धान्त कभी न फिर सके ऐसा उत्तम है। इसी लिये मैं मानता हूं और दृढ़ता पूर्वक मानता हूं कि जैन धर्म के न्यारे २ मतों में से कोई मत यह प्रतिपादन करे कि साधु को धर्मार्थ हिंसा करने में कोई पाप नहीं, तो उसका स्थापन करने वाला धर्मज्ञ होने पर भी स्वार्थान्ध है। क्यों-कि जिस मनुष्य में मत चला देने जितनी सामार्थ्य हो वह धर्म से अनभिज्ञ नहीं होसकता। तब यह प्रगट ही है कि ऐसी प्ररूपणा का—इस भांति प्रतिपादन करने का कारण या कोई स्वार्थ होना चाहिए. यह स्वार्थ ही क्यों उत्पन्न हुआ इसका दृष्टान्त यहां पर देना ठीक होगाः—

श्री वीर के निर्वाण पदको प्राप्त होने के ६२० वर्ष बाद जिन वज्रसेन स्वामी का स्वर्गवास होगया उन के समय में पांच वर्ष का और सात वर्ष का यों बारह वर्ष का वड़ा भारी

दुष्काल-(कहत) पडा इस भयंकर कहत में दुनियां खुद ही दया जनक स्थिति में आ पड़ी और भूखों मरने लगी तो दान कहां से करती ? इससे जो सच्चे सुपात्र साधु थे वे ७८४ साधु तो संथारा कर स्वर्ग को गये और कितने हीं दूर देशों में चले गये । कितनों ने वक्त का विचार कर पेट भरने के रास्ते बनाडाले । उन्होंने भिक्षुक वृत्ति में स्पर्धा करने वालों को दूर हटाने के लिये हाथ में लकड़ी रखना शुरू किया धाड़े के डर से किवाड़ बन्द कर बैठने वाले जैनों को अपनी जान पहचान कराने के लिये ' धर्म लाभ ' शब्द बोलने की रीति निकाली. ऐसी २ बहुतसी बातें बन गईं । आखिर कार और २ मतों में मूर्ति पूजा को खूब चलती हुई देख कर भगवान की मूर्ति के साम्हने अन्नादि रखने से,-द्रव्यादि* भेट

* एक समय क्रिश्चियन पोप भी ऐसी ही तरकीब से टका सीधा करने लगे थे. वे परमेश्वर पर हुंडी (Benevolences) लिख देते थे कि अमुक व्यक्ति को आपके दरबार में मंजूर करना ! और इस के पलटे जैसा मनुष्य वैसा ही टेक्स यों लाखों पर हाथफेरतेथे,

करने से धर्म होता है ऐसा उपदेश शुरू किया. यही रिवाज नाना प्रकार के रूपों को पलटता हुआ आगे वढ़ता गया । क्यों न वढ़े? जो दुनियां में अपनी ओर झुकाने वाले उत्साही और हिम्मतवाले हों तो झुकने वाले तो वहुत ही हैं। तलवार के जोर से धर्म फैलाने वाले के अनुकूल एक समय दुनियां का ¾ होगया था । कुमारी के पेट से प्रभु का अवतार होना मानने वाले के अनुकूल इतने मानने वाले होगये कि जिनको गिनती करना भी कठिन है। कई भजन गाने वाले नाच कूद कर स्त्रियों के मन को लुभा, उन से धन ठग लेते हैं। किसी २ स्त्री को भी उडा ले जाते हैं, ऐसा के भी हजारों भक्त मैंने खुद अपनी आंखों से देखे हैं, विशेष क्या कहू 'कांचलिया पंथ' और 'वाम मार्ग' जैसे व्यभिचारी पंथ भी हिंद में कहीं २ पाये जाते हैं। वाम मार्ग की पुस्तकें संस्कृत में हैं और वे भी इतनी कि गाड़ी का बड़ा डब्बा भरजाय! संस्कृत में खूबी के साथ लिख सकें ऐसे विद्वानों ने मद्य—मांस मैथुन में ही धर्म बतलाया और रजस्वला स्त्री को देवी कह

कर पूजी ! उन्हें भी जब हजारों अनुयायी-ब्राह्मण तक मिल गये तो फिर औरों के लिये तो कहना ही क्या है ?

लोगों का एक बडा भाग अज्ञान में डूब रहा है. उन्हें धर्म के नाम से युक्ति से, प्रपंच से, मोहन से, लालच से या जैसे बने वैसे बहुत से लोग समझा कर वाहवाह लूटते हैं या सम्पत्ति कमाते हैं। परन्तु जो शुद्ध सनातन धर्म के प्रेमी हैं वे तो कभी ऐसे मार्ग का अवलम्बन ही नहीं करते. चाहे फिर इनमें संस्कृत ग्रन्थ लिखने की शक्ति हो या न हो, ये कभी मिथ्यात्व में या हिंसा में धर्म नहीं बतला सकते इनकी पोशाक सादी हो चाहे मलीन हो, भाषा चाहे उत्तम हो या ग्राम्य, जीवन प्रकट हो या कहीं एकांत में छिपा हुआ; परन्तु हैं ये सत्य पर " इनका व्यापार बडा लाभदायक होगा इसमें चाहे किसी को कुछ एतराज भी हो परन्तु थोडा बहुत तो फायदा करेगा ही और नुकसान तो हरगिज़ नहीं करेगा" इसके साबित करने की कदाचित् आवश्यकता न पडेगी।

जब ध्यान के लिये मूर्ति की आवश्यकता कहनेवाले भी स्वीकार करते हैं (मंजूर करते हैं) कि जडपदार्थ में भग-

करने से धर्म होता है ऐसा उपदेश शुरू किया. यही रिवाज नाना प्रकार के रूपों को पलटता हुआ आगे बढ़ता गया । क्यों न बढ़े? जो दुनियां में अपनी ओर झुकाने वाले उत्साही और हिम्मतवाले हों तो झुकने वाले तो बहुत ही हैं। तलवार के जोर से धर्म फैलाने वाले के अनुकूल एक समय दुनियां का ३/४ होगया था । कुमारी के पेट से प्रभु का अवतार होना मानने वाले के अनुकूल इतने मानने वाले होगये कि जिनकी गिनती करना भी कठिन है । कई भजन गाने वाले नाच कूद कर स्त्रियों के मन को लुभा, उन से धन ठग लेते हैं । किसी २ स्त्री को भी उडा ले जाते हैं, ऐसों के भी हजारों भक्त मैंने खुद अपनी आंखों से देखे हैं, विशेष क्या कहूं 'कांचलिया पंथ' और 'वाम मार्ग' जैसे व्यभिचारी पंथ भी हिंद में कहीं २ पाये जाते हैं। वाम मार्ग की पुस्तकें संस्कृत में हैं और वे भी इतनी कि गाड़ी का बड़ा डब्बा भरजाय! संस्कृत में खूबी के साथ लिख सकें ऐसे विद्वानों ने मद्य-मांस मैथुन में ही धर्म बतलाया और रजस्वला स्त्री को देवी कह

कर पूजी ! उन्हें भी जब हजारों अनुयायी–ब्राह्मण तक मिल गये तो फिर औरों के लिये तो कहना ही क्या है ?

लोगों का एक बडा भाग अज्ञान में डूब रहा है. उन्हें धर्म के नाम से युक्ति से, प्रपंच से, मोहन से, लालच से या जैसे बने वैसे बहुत से लोग समझा कर वाहवाह लूटते हैं या सम्पत्ति कमाते हैं। परन्तु जो शुद्ध सनातन धर्म के प्रेमी हैं वे तो कभी ऐसे मार्ग का अवलम्बन ही नहीं करते. चाहे फिर इनमें संस्कृत ग्रन्थ लिखने की शक्ति हो या न हो, ये कभी मिथ्यात्व में या हिंसा में धर्म नहीं बतला सकते इनकी पोशाक सादी हो चाहे मलीन हो, भाषा चाहे उत्तम हो या ग्राम्य, जीवन प्रकट हो या कहीं एकांत में छिपा हूआ; परन्तु हैं ये सत्य पर " इनका व्यापार बडा लाभदायक होगा इसमें चाहे किसी को कुछ एतराज भी हो परन्तु थोडा बहुत तो फायदा करेगा ही और नुकसान तो हरगिज़ नहीं करेगा" इसके साबित करने की कदाचित् आवश्यकता न पडेगी।

जब ध्यान के लिये मूर्ति की आवश्यकता कहनेवाले भी स्वीकार करते हैं (मंजूर करते हैं) कि जडपदार्थ में भग-

वान के गुणों को आरोपित करना पडता है—"यही भगवान है" ऐसा मानना पडता है He has to make believe after all तव विना मूर्ति स्थापन किये अपनी आंखों के सामने या हृदय में स्थित ही भगवान को क्यों न मान लिया जाय? जो ध्यान की पुष्टि के लिये सीढी* तुल्य मूर्तिपूजा मानी गई हो तो उसके सामने लड्डू पेडे वर्फी और द्रव्यादि रखने की क्या जरूरत? क्या ये सब ध्यान को पुष्टी देनेवाली हैं? "वीर प्रतिमा वीर समान" यह कह कर जो प्रतिमा को भगवान माना जाय तो भी विचारने की बात है कि जब भगवन देहधारी थे तब भी वे कभी लक्ष्मी और वनस्पति

---

*सीढी गिननेवालों को भी छत पर पहूंचे बाद तो सीढी को अवश्य छोड देना चाहिए; परन्तु मूर्तिपूजा को सीढी माननेवालों में से कितनों ने ऊपर के दर्जे पर चढकर मूर्तिपूजा का त्याग किया? किसी ने नहीं. त्यागी मुनिवर्ग भी यात्रा करने जाते हैं और मूर्तिपूजन करते हैं. क्या विद्यार्थी सदाही धूल के पट्टे से अ, आ, १–२ लिखा करेगा? क्या वह गहनशास्त्र और गम्भीर गणित का अभ्यास नहीं करेगा?

को छूते नहीं थे तो अब ये चीजें उनकी मूर्ति के पास क्यों कर रक्खी जावें ? जो भगवान आधाकर्मी आहार बहोरते नहीं थे उनके पास आहार लाकर कैसे भोग लगाया जावे ? जो भगवान टामटीम जेवर आदि से शरीर संस्कार नहीं करते थे, प्रत्युत इसे क्षणभंगुर समझकर सेवा सुश्रुषा करने से लोगों को मना कर देते थे, उनकी मूर्ति को वस्त्रालंकार और तेल फुलेल इत्रकी क्या आवश्यकता ? और गाने बजाने और नाचने की क्या जुरूरत ? जो वीर भगवानकी मूर्ति ही वीर भगवान हो तो इनके अलंकारों को जो चोर चुरा ले जाते हैं, उनके खजानेमें से उनके भक्त बड़ी २ रकमें मार खाते हैं उन्हें शासन देवता क्यों नहीं रोकते ? सेरेसन लोगों ने जब फ्रांस को बरबाद किया और वहां के देवमंदिर और मठों को लूटे उसका वर्णन करते हुए एक अंग्रेज विद्वान ने लिखा है कि "जिन कुलदेवताओंकी जिस समय जुरूरत नहीं थी, उस समय तो वे चमत्कार बताते थे और जब उनकी सचमुच मददकी जुरूरत पड़ी तब न मालूम वे कहां जा छिपे !"

"All central France was now overrun, the bank of the Loire reached, the churches and monasteries were despoiled of their treasure, and the tutelar saints, who had worked so many miracles when there was no necessity were found to want the requisite power when it was so greatly needed".

कोई २ यह दलील पेश कर बैठते हैं. मूर्तियां जमीन में गडी हुई मिलती हैं इससे मूर्तिपूजा सदा से चली आती है। परन्तु बम्बई जैसे सुधरे नगर में थोड़ा अरसा हुआ एक शिक्षित (?) मनुष्यने (जो जैनमतानुयायी था) किसी खास स्थान पर मूर्ति और रुपया गाड दिया और जाहिर किया कि भगवानने मुझे स्वप्न दिया है कि मुझे निकालो; हजारों आदमी इकठे होने लगे और मूर्ति के निकलने पर मानता होने लगी परन्तु जब रुपये परकी साल (वर्ष) पढी गई तो भंडा फूट गया ! कौतुक पहचान लिया गया ! इससे यह सिद्ध होता है कि वहूतसी मूर्तियां इसी तरह दवा दी गई थीं. वहुतसी, मन्दिर जमीन में दव जाने से दव गई थीं. क्या यह योग्य है कि सर्वशक्तिमान भगवानकी मूर्तियां खोदकर हमें जमीन में से निकालना पडे ? और

देवतालोग इतना भी काम न करें ? कभी २ मूर्तिपूजाको सिद्ध करनेके लिये शिला लेख और पुस्तकोंका प्रमाण दिया जाता है; परन्तु इन प्रमाणों में कदाचित् कोई एक आध ही विश्वास योग्य होते हैं कारण कि उस उस पंथ के चलाने वालोंने अपनी उन उन पुस्तकों में पुरानी तिथि लिखमारी और अपने शिष्यों को १००–२०० वर्ष तक जाहिर न करने की आज्ञा दी, इसलिए कि उस वक्त के मनुष्य इस मतको प्राचीन मानें. ऐसे अनेक उदाहरण हैं. चलो हम यह मान भी लें कि प्राचीन समय में मूर्ति थी तो इसी तर्क पर उसे सच्चा मान लेना तर्कशास्त्र [Logic] का दुरुपयोग है. एक अरेबियन लेखकने लिखा है कि जो कोई जादुगर मुझे कहे कि तीन, दस से जियादा होते हैं, और इसे साबित करने के लिए मैं लकडी का सांप बना देने को तैयार हूं, इस बातपर मुझे ताज्जुब होगा सही परन्तु तीनको दससे जियादा कभी न मानूंगा । सच है लकडी का सांप हुआ इससे कुछ तीन दससे जियादा न हुए । मूर्ति पहले थी इससे वह सच्ची न हो गई । स्वयं महावीर स्वामी के जमाने में

'गोशाला' था इससे क्या गोशालाका धर्म सच्चा हो गया ? उस समय भी पाखंडी थे। तो क्या वे प्राचीन हैं इससे मानने योग्य कहे जायंगे ? वडी आश्चर्य की वात है. मूर्ति-पूज़ा यदि भगवान की आज्ञा होती तो भगवान की आवेहूव स्टेच्यू (Statue) क्यों किसी ने न वनाया होता ?

कितनेही लोग ऐसी दलील पैदा करते हैं कि खटाई को देख कर मुखमें से पानी पडने लगता है। शृंङ्गार की गई स्त्रियों की तसवीर देखने से कामविकार उत्पन्न होजाता है वैसा ही वीतराग भगवान की मूर्ति को देखकर वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसा कहना विश्व नियम से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है, क्योंकि विषय तो इस जीव के साथ अनन्त कालसे लगे हुए हैं और एक तरह स्वभाव ही वन बैठे हैं (Habit is Second nature आदत दूसरी प्रकृति है ।) स्त्री का शब्द सुनते ही—सुन्दर चित्र पर निगाह पडते ही स्त्री सम्बन्धी बातें सुनते२ भी काम उत्पन्न होता है और वैरा-ग्य बड़े २ उपदेशकों का उपदेश सुनते रहने पर भी, दुःखों पर दुःख पड़ने पर भी, महात्माओं के दर्शन करने पर भी

सहज में नहीं होता, इस के लिये तो क्षयोपशम चाहिए । यह तो अपूर्व बात है । खटाई देखने से मुख में पानी छूटने लगता है परन्तु मिठाई देख कर नहीं । झूठे की संगति में आदमी झूंठा बन जाता है परन्तु महात्मा की संगति से एका एक महात्मा नहीं हो जाता । हां इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'प्रत्येक बुद्ध' को बाह्य कारणों से वैराग्य उत्पन्न अवश्य होता है । परन्तु इससे यह कभी सिद्ध नहीं होता कि वैराग्य पैदा कर देने वाले कारण 'पूज्य' हैं । भरतेश्वर ने अरीसा भवन को, करकंडू ने वृषभ को, दमूहने स्तम्भ को, नमी राजा ने चूड़ी को, नोगाई राजा ने आम को वन्दन किया हो ऐसा जैन शास्त्र में कहीं भी नहीं लिखा, प्रत्युत श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र में पांचवें संवर द्वार में प्रतिमा (चेइय) और पुतलीः दोनों को देखने की, उनके विचार करने की, उन में सन्तोष मानने की, उन पर प्रीति रख मोहित होने की मनाई की है (पढ़ो, वितियं चखुइ दियण······नस इंच मइंच त्तथ कजा) इतना होने पर भी कोई २ तो यहां तक कह डालते हैं कि—सामायिक में बैठे

हों तो भी उठ कर पुष्पादिक से मूर्ति पूजा की जा सकती है। जहां पर ऐसे २ वहमों ने अपना गहरा घर कर लिया हो वहां पर कौनसा तर्क शास्त्र काम कर सकता है ? जब शास्त्रों के देखने में ही दोष माना जाय तब शास्त्रों के प्रमाणों का कौन भाव पूछे ? जब किसी भी तरह मतको फैलाने का उद्देश मान लिया जाय तब न्याय और अन्याय को देखने की किसे फुरसत ? ऐसा नहीं हो तो गुरु के लक्षण को भली भांति जानने वाले जैन अकिंचन--निर्ग्रन्थ गुरु के सत्कार में रुपया पैसा क्यों देवें ? और उनके गुरु के स्वर्गवास कर जाने पर उन के छोड़े हुए हजारों के माल पर क्यों किसी साधु को वारिस करें ? परन्तु जब तक मनुष्य मत के मद से मतवाला है तब तक सत्य को नहीं ग्रहण कर सकता। कंचन और कामिनी का सर्वथा जिसने त्याग न किया हो वह 'साधु' कहा ही नहीं जा सकता, उसे गुरु होने की सर्वथा योग्यता नहीं है इस मुख्य नियम को भी क्या उपनियम की आवश्यक्ता है ?

समझदार आदमी अपने मनमें ही विचार कर लेंगे कि

भगवान की मूर्त्ति सुख देनेवाली हो तो सदा और सब जगह सुख देनेवाली ही होनी चाहिए । परन्तु नहीं; मूर्तिका उपदेश करनेवाले कहते हैं कि "पश्चिमकी ओर मुख रखकर पूजा करने से चोथी पीढी में कुलक्षय हो जाता है, दक्षिणमें मुखकर पूजनेसे सन्तति नहीं होती, अग्निकोण में मुखकर पूजा करने से सम्पत्तिका नाश हो जाता है और नैऋत्यकोण में मुख कर पूजा करनेसे परिवार की खैर नहीं रहती, इत्यादि" जिस भगवान की पूजासे कुलक्षय हो धनका नाश हो वह भगवान किस कामका ?

संस्कृत और मागधी के जाननेवाले पुरुषों ने धर्मके नामसे कैसा उपदेश किया है इसको बराबर समझानेके लिए नीचे लिखे हुए उदाहरण आवश्यक हो पड़ेंगे !

(१) 'श्राद्धविधि' ग्रन्थमें लिखा है कि–"सांठे की खेती, समुद्र, योनिपोषण और राजा की कृपा दरिद्रता को फौरन मिटा देती है; सुखकी इच्छा करने वाले अभिमानी मनुष्य चाहे राजसेवा की भले ही निन्दा किया करे परन्तु राज सेवा किये विना स्वजनका उद्धार और शत्रुका संहार नहीं हो

सकता।" एक मुनि शत्रुके नाश की युक्ति बतावे और योनि पोषण की हिमायत करे यह क्या जैनशास्त्रके अनुसार ठीक हो सकता है ?

(२) जिनदत्तसूरि कृत "विवेक विलास" में से नीचे लिखे हुए उदाहरण काफी होंगे:—

(अ) आसने वाथ शय्यायां
जीवांगे विनियोजयेत्।
जायन्ते नियत् वश्याः
कामिन्यो नात्र संशयं॥

स्त्री को वश करने के लिये यह कामिनीके त्यागी महाराज बेचूक युक्ति बतलाते हैं कि जिस ओरकी नाक चलती हो उस ओर स्त्रीको आसनपर या बिछौनेपर बिठावे तो वह अवश्य वश होतीही है." "नात्र संशयः" की बहार तो देखो कि लिखनेवालेने इसका पूरा अनुभवही कर रक्खा हो ऐसा सूचित करता है.

(ब) दहनास्वर चल रहाहो उस समय पुरुषको चाहिए कि विलासके वचनों से स्त्रीको कामविकार उत्पन्न करे और

बाद इस प्रकार संभोग करे कि स्त्री इन्द्रीयके कमलाकार मूलदेशमें वीर्य्य सम कालमें ही मिले ऐसा हो तो पुत्र उत्पन्न होता है."

(क) "अमृतका स्थान मलनेसे स्त्रियां अवश्य वश हो जाती हैं. खासकर जो गुह्यस्थानमें अमृतकला आई हो तो तो उसे मसलने से फौरन ही स्त्रियां वश होती हैं."

(ड) अलग ऋतुओंमें केसे सुखपाना मजे उडाना इसके बारेमें यही महात्मा लिखते हैं कि:—"ग्रीष्मऋतुमें अपनी स्त्री रूपी बेलके स्पर्श करनेसे तापको शान्ति होती हैं और जलसे भीजे हुए पंखेकी हवा बडाही आनन्द देती है. हेमन्त ऋतुमें सुगंधित पदार्थ लगाये हुए पुष्ट ओर बडे २ स्तन-वाली मनोहारिणी युवती ओर कोमल तथा ऊष्ण स्पर्शवाली शय्या शीत को दूर भगा देती हैं" +

+ हम इस क्वॉटेशन के बारे में पाठक गण से शत बार क्षमा चाहते हैं। जिस बात के साधु कहलाने वाले को प्रगट करने में शर्म न आई उस बात को नमूना के तोर पर प्रगट करने में भी हम शर्म के मारे मर जाते हैं।

आगे चल कर इसी पुस्तक में स्त्रियों के लक्षण, वेटा या वेटी होने के चिन्ह वगेरा २ लिखे हैं. अब इसे जेन शास्त्र, कहा जावे या कोक शास्त्र, इसे साधारण से साधारण मनुष्य भी समझ सकता हे, इतना 'सॅम्पल' वताने में भी मुझे शर्म आती है. क्या हम ऐसी पुस्तकों में श्रद्धा रख सकते हैं ?

मूर्ति पूजा के और दूसरी तरह के ग्रन्थ ऐसे ही मनुष्यों ने घड़े हैं. ब्राह्मणों में से+जैनों में आये हुए पंण्डितों ने संस्कृत भाषा के ज्ञान के जोर से ऐसी पुस्तकें बनाई. आज जैसे थोड़ी अंग्रेजी पढ़े हुए मनुष्य की सामान्य मनुष्यों में

+ब्राह्मणोंमें वैयाकरणी नैयायिकादि हजारों मारे २ फिरतेथे उनको कोई नहीं पूछता था जब उन्होंने देखाकि जैनियोंमें खूब चलती है तो उन्होंने जैनमार्गका पक्ष किया और इस मतके लिये सैकड़ों पद्यमय विधि ग्रन्थ बना डाले । जैन उनकी विद्वत्ताको पवित्रता समझने लगे और कई एक बूझकर भूलमें पड़े, क्योंकि उन्होंने जैसे हो वैसे मत बढाने का इरादा रक्खा था. ।

पूछ होती है और बड़ा आदर सन्मान होता है वैसे ही उनके बारे में भी हुआ।

संसारी मनुष्य को संसार व्यवहार की बड़ी जरूरत है इस में कोई सन्देह नहीं है परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि ऐसा उपदेश त्यागी को ही करना चाहिए, संसार में तो रोटी पकाना—मैथुन सेवन करना, आदि हजारों क्रियायें हैं तो क्या सब बातके उपदेशकी साधुको ही आवश्यकता है? जो है तो रासायणविद्या, यंत्र विद्या, व्यापारकला, खगोल, भूस्तर, वाद्य आदि विद्या कलाकी भी जरूरत है—बल्कि ज्यादा जरूरत है।

इन आचार्योंमेंसे किसी एकने भी ऐसा उपदेश नहीं किया जिससे उन्नति होती। परन्तु जिसका ज्ञान ही न हो उसका उपदेश कैसे किया जा सकता है? सच तो यह है कि ऐसा उपदेश करना संसारी मनुष्यका काम है, दुनियां चाहे रसातल को जाय त्यागी को यह विद्या सिखलाना किसी भांति योग्य नहीं है।

समयके प्रभावसे ऐसी बीती कि ऐसे ऐसे चमत्कारोंमें ही साधु पुरुष धर्म बताने लगे। किसीने थाली उड़ाकर

चन्द्रमा बतलाया। किसीने कुछ कौतुक किया और किसीने कुछ—बस इसीमें अपने २ धर्म (नहीं, मत) की उत्तमता मंजूर कराई। किसीने विधियें--वे भी एक दो नहीं—अनन्त बना डाली और संसार के छोटेसे छोटे कामके साथ भी धर्म का सम्बन्ध जोड़ दिया। यह मायाजाल यहां तक फैला कि इससे फंसे हुए मनुष्य हिंसा और धर्मका भेद बतानेवाले मनुष्यकी जान लेने तक तैयार होने लगे। जो मिथ्यात्वकी इस चरम उन्नतिके समयमें बहादुर और न्यायी अंग्रेज सरकारका राज न होता तो मूर्तिके न पूजने के अपराधमें और त्यागी मुनियोंके खजानेकी ओर शंका करनेके दोषमें सैकड़ों गरीबोंको फांसीपर लटकना पड़ता!

इस तरह कितनेही मत मनुष्य जातिको अंधेरेमें ढकेलते हैं और जो अंधेरेमें हैं उन्हें बाहर नहीं निकलने देते, इतनाही नहीं बल्कि मनुष्यत्वके जो मुख्य चिन्ह सरलता और बन्धुभाव हैं उन्हें देश निकाला कर देते हैं। यह हुई 'मत' की बात; अब जैन 'धर्म' की सुनिये, जिससे 'मत' और 'धर्म' का भेद मालूम हो जावे.

(१) 'जैनधर्मी मनुष्य जैन सिद्धान्तको सत्य मानते हैं, यही क्यों, उनके अनुसार अपना चरित्र रखते हैं और जितने अंश में आचरण नहीं कर सकते, उसके लिये चित्तमें दुःखी रहते हैं.

(२) 'जैनी' सच्चे जिसे मानता है कि जैन सिद्धान्त सत्य है (परन्तु वह उसके अनुकूल चल नहीं सकता.)

(३) 'जैनमती' जैन धर्म के सिद्धान्तों को स्वयं जिस तरह समझा हो वैसेही चाहे जिस तरह (योग्य रीतिसे या अयोग्य रीतिसे) फैलानेमें ही धर्म मानता है और 'अपना कक्का सच्चा' करवाने के लिए हिंसा, चोरी, झूंठ जुल्म आदि कोई काम करना पडे उसे भी अधर्म नहीं मानता।

(४) 'जैनाभासी' जैन सिद्धान्तोंका नाश करनवाले हैं; जैनका भेषकर जैनियों की आंखों में धूल झोकने का यत्न करते हैं. जैनधर्मी. जैनी, जैनमती और जैनाभासीमें जमीन आसमानका फरक है; इस बातको समझनेवाले बहुत कम है और बहुत कमही इसको जानने की परवा करते हैं.

इतना लिखने के बाद मैं अपने मूल सवाल पर कुछ लिखता हूं: "स्थानकवासी या साधुमार्गी जैनधर्म इस नामसे प्रसिद्ध धर्म सच्चा है या क्या ?" मैं भी इसी वर्गका हूं इससे पाठक मुझे इसका पक्ष करता हुआ मानें यह सहज है; परन्तु यह लेख लिखते वक्त मैंने निश्चय किया है कि किसीका पक्ष या किसी को विरुद्धता नहीं करूंगा और अपनें निश्चय को प्रभुकी साक्षीसे पालन करूंगा; फिर मेरी समझमें भूल हो यह एक दूसरी बात है पाठक पक्षपात न समझें।

स्थानकवासी, देहरावासी, दिगम्बरी, रामानन्दी क्रिश्चियन नाम मात्रका नाश है और जब तक नाम है तब तक 'पूर्ण सत्य' नहीं कहा जा सकता। 'धर्म' सत्य है परन्तु जब धर्मके नामसे अलग २ और भूल भरी मानताऐं प्रचलित हो गई तब 'जैनधर्म' नाम देना पड़ा; और जैनधर्ममें भी भगवानकी आज्ञा के विरुद्ध मनमानी बातें होने लगी तब "साधुमार्गी" जैन" नाम रखने की जरूरत पडी. यह धर्म कुछ नवीन बातें बतानेका दावा नहीं करता,

फिर यह धर्म पालन करनेवाले कुछ स्थानक (उपाश्रय) में नहीं बैठे रहते परन्तु उनकी आत्मायें स्थानकमें (जहां पवित्रात्मा साधु लोग रहते हैं) रहती है। इसीसे 'साधु-मार्गी' या 'स्थानकवासी' नाम धर्मका रक्खा गया जान पडता है। जैसे श्वेताम्बरी कहने से यह नहीं माना जाता कि इस मतको माननेवाले सब सफेद कपडे पहनते हैं, बल्कि वे श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले धर्मगुरुको मानते हैं अर्थात् उनके धर्मगुरु श्वेत वस्त्र पहनते हैं.

'साधुमार्गी' अर्थात् 'साधुता [Sanctity] ही मार्ग है जिनका' ऐसे लोगोंको ' ढूंढीया ' भी कई लोग कहते है. इस शब्दकी बडा निन्दा हुई है और पूजा भी हुई है बुराई हुई है ओर तारीफ भी हुई है. परन्तु इसका रहस्य यह है:--

> ढूंढत ढूंढत ढूंढ लिया सब,
> वेद पुराण किताब में जोई;
> जैसे दही में मांखण ढूंढत,
> ऐसो दया में लियो हे जोई;

ढूंढत हे तब चीजहि पावत,
ढूंढे बिन नहिं पावत काई;
ऐसो दया में हि धर्म ढूंढ्यो,
जीवदया बिन धर्म न होई;

चारों ओर निगाह डालकर विचार करनेसे जो कुछ सत्य मालूम हुआ उसे ढूंढ कर--हेर कर जो कुछ उपदेश किया गया वह 'ढूंढिया धर्म' (Puritan) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ढूंढने से ही अच्छी अच्छी औषधियां प्रकट होती हैं, ढूंढने पर ही कलाका आधार है. ढूंढने से ही इतिहासका पता चला है, इसी ढूंढने ने ढूंढिया धर्मको जन्म दिया! 'जन्म दिया' यह कह कर मैं इस धर्मके विषय में अपमान कर रहा हूं, क्योंकि सत्य तो सदा ही रहता है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता; अलबत्ता वह ढंक जाता है, उसे कोई न कोई महापुरुष निकालकर जगतमें प्रकट कर देता है.

जैन धर्म रूपी अग्निको जब 'जैन मती' और जैनआसियों' ने मिथ्यात्वरूपी राखसे ढंक दिया तब लोहखंडके मजबूत हाथवाले मनुष्यकी जरूरत पड़ी. वेद मतानुयायियों

में सत्य कहा है कि 'जब २ दुनियामें अन्धकार (धर्मग्लानि) होती है तब तब अवतार उत्पन्न होते हैं." इसी नियमके अनुसार जैनोंमें १ वीर उत्पन्न हुआ। उसने जैनमति और जैनाभासियोंका राखका आवरण फूंककर उडा दिया और अग्निको प्रकट कर दिखाया. इसकी फूंक ऐसी प्रभावशाली थी कि देखते ही देखते उसका असर पूर्व--पश्चिम--उत्तर दक्षिण चारों ओर पडा और जैनमति और जैनाभासियोंका आधा भाग शुद्ध सुवर्णका ग्राहक हो गया.× यह तो हुआ परन्तु इस से ईर्षा उत्पन्न हुए बिना रह न सकी. स्वयंवर में अनुपम सुंदरी को पानेवाले से और २ क्षात्रेय ईर्षा और शत्रुता कर बैठते थे यह कुछ इतिहास प्रेमियों से छिपा हुआ नहीं है ॥

×लाखों साधुमार्गियोंमेंसे १--२ मनुष्योंको संसारी लालच देकर जो कोई जैनमती या जैनाभासी अपनेमें मिला लेते हैं वे फूलकर कुप्पा हो जाते हैं. परन्तु वे यह नहीं सोचते हैं कि उनके लाखों मनुष्योंको उत्तममार्गी बना दिया उन्हामें से एक--दो को वापस खींच लेनेमें खुशी की बात क्या है?

साधुमार्गी या स्थानकवासी जैन धर्म की शीघ्र की हुई जांचने ऐसा ही परिणाम उत्पन्न किया और इस से यह विजय ' मूल्य वान विजय ' (Dear Bought) हो पड़ी । धर्म क्षेत्र में उन से स्पर्धा करनेवाले उन के सहोदर नीच से नीच शब्दों से उनकी निन्दा करने लगे और ऐसी तजवीज तक करने लगे कि दुनियां में इस वर्ग के मनुष्यों को घृणा से देखा जाय । इस का परिणाम [साधुमार्गियों में उन्नति अवनति के नियमानुसार उत्साही मनुष्यों की कमी होने से] यह हुआ कि आज यह ज्योति फिर आच्छादित हो गई है, जिसे फिर कोई वीर उत्पन्न हो कर प्रगट करेगा. +

जिसको निन्दा करनी होती है वह अच्छी वस्तु की भी निन्दा करता है । (निन्दक मति का यही दुःख है । निन्दक की बुद्धि कलुषित-भ्रष्ट होती है । आगे चल कर उस में इतनी शक्ति नहीं रहती कि सत्यासत्य को समझ

+ यह शब्द निकलते ही जलवृष्टि हुई, इससे अच्छी आशा की जा सक्ती है ॥

भी सके) * स्थानकवासी जैन धर्म के निन्दकों को जब और कुछ निन्दा करने को नहीं मिला तब इस धर्म की उत्तम दया के सिद्धान्त को ही हँसी करना शुरू किया और दलील देने लगे कि ' दया ' एक सद्गुण है परन्तु स्थानकवासी उसे हद के बाहर खींच कर दुर्गुण बनाते हैं यह कहना ही मिथ्या है और धर्म के मूल सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। सत्य की हद ही नहीं होती, फिर इसे हद्दबाहर लेजाने का कुछ अर्थ ही नहीं है। शील सद्गुण है, क्या इस में २–४ स्त्रीयां की छूट रखना वाजबी कहा जायगा ? हां, जो महाव्यभिचारी है उसके लिए कदाचित् कोई ऐसी

---

* निन्दा के भय से कभी अपने कर्त्तव्य से न चूकना चाहिए इसी बात को एक महानुभाव ने अपने " विद्वद्विषाद हरस्तोत्र " में लिखा है " निन्दायानः किं विषादः प्रभोस्यान्नृणां धर्मोनिन्दकानां हि निन्दा " अर्थात् हे प्रभो निन्दा से हमें क्यों विषाद होवे ? क्योंकि निन्दकों का तो धर्म ही निन्दा है, यदि वे निन्दा न करें तो निन्दक ही कैसे कहे जाय ? (अनुवादक.)

नियमित व्यवस्था कर दे परन्तु क्या इस में कोई सर्वथा ब्रह्मचारी को सद्गुण की हद्द बाहर जाने का दोषी बना सकता है ? इसी तरह दया सद्गुण है तो सदा और सर्वथा सद्गुण ही है और जितने अंश में उसका पालन न हो उतने ही अंश में उस सद्गुण की कमी है । सत्पुरुषों के हृदय में इस कमी के लिये खेद भी होता है ।

थोड़ी देर के लिये ऐसा होने पर भी सिर्फ दलील करने को यह मान भी लें कि स्थानकवासी जैन या इन के साधु दया को हद्दबाहर ही खींचते हैं और उसे दुर्गुण में परिणत करने की भूल करते हैं तो भी यह भूल सन्मार्ग की ओर है—यह भूल निरपराधी है । इन के साधु स्त्री और श्री [द्रव्य] को स्पर्श भी नहीं करते, केवल इतना ही उनको निरपराधी साबित करने को बस है । इससे उन्हें किसी को ठगने की कोई आवश्यक्ता नहीं रहता और इसी से वे औरों की तरह धर्म के नाम से द्रव्य इकठ्ठा नहीं करते और न ऐसा उपदेश ही करते हैं । जो धर्म के नाम से पैसा इकठ्ठा कर सकते हैं वे उस पैसे को काम पड़े से अपने लिये भी खर्च कर सकते, हैं, और ऐसा

करने को आदत पड़ने पर पैसा इकट्ठा करने को झूठ भी बोल सकते हैं, चोरी भी कर सकते हैं, स्त्रियों से संसर्ग भी बढ़ा सकते हैं। पैसे के छूने से उत्पन्न होने वाले ये सब दोष स्थानकवासी साधुओं से हजार कोस दूर रहते हैं और इसी से वे बिल कुल निर्दोष प्राणी हैं। ऐसे ही पुरुष निस्पृह होते हैं और सच बोलने की, सच्चा उपदेश और सम्मति देने की हिम्मत रखते हैं। ऐसे ही पुरुष मूर्खता और पाप में गडी हुई दुनियां को अपने उपदेश और सलाह से निकाल सकतेहैं. इन्हा कारणोंसे स्थानकवासीजैनमुनि संसारको आशिर्वाद रूप हो जावें इसमें क्या आश्चर्य, क्या सन्देह? इस बात को, थोड़े समय में ही स्थानकवासी साधुओं के अनुयायों की संख्या का लाखों पर पहुंच जाना और भी पुष्ट करता है। जो ये साधु अपने शास्त्रों को मेहनत के साथ पढ़े और एक आध "ट्रेनींग कालेज" का सुभीता पाकर सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश शास्त्रों को समझ सकें तो वे जगत के बड़े भाग को तारने में समर्थ हो जावे। इस बात को स्वीकार न करना गैर इंसाफी होगी कि अब अब कुछ साधुपन का बंधन शिथिल होता जाता है।

परन्तु यह भी निधड़क—विना किसी भय संकोच के कह देना अयोग्य नहीं है कि यह शिथिलता दंड देने योग्य है। आचार्यों को चाहिए कि वे अपने शिष्यों पर पूरी २ निगाह रक्खें और जब देखें कि किसी में किसी तरह की शिथिलता आगई हो तो फौरन उसे दूर करावें. जो इस सूचना पर इस पंथ के प्रत्येक आचार्य अमल करें तो फिर स्थानकवासी जैन धर्म सर्व मान्य होने में कुछ सन्देह नहीं रहता. 'मुक्ति फोज' कबीर पंथी साधु आदि से अवश्य उत्तम और अधिक काम कर सकते है।

जैन स्थानकवासी, ढूढिया, दया धर्मी, साधु मार्गी आदि नाम से इस पंथ के मनुष्य कहे जाते हैं परन्तु ये नाम कुछ, सूत्रों में नहीं हैं. ये नाम तो गुण सूचक है. यह पंथ कब उत्पन्न हुआ (सच तो यह है कि इसका जन्म ही नहीं हुआ, सदा का है परन्तु अभी प्रसिद्धि में आया) इस बात को जानने के लिए अब इतिहास को देखें. इतिहास क्षेत्र में आने के पहले मैं इस बात को मंजूर करता हूं कि न मैं कोई बड़ा इतिहास वेत्ता हूं और न बड़ा भारी खोज करने

वाला, परन्तु धर्म सम्बन्धी अभ्यास के समय में जो कुछ मेरे पढने में और सुनने में आया है उसी का सार यहां पर दूंगा. इस में भूलें भी होनी बहुत कुछ सम्भव है और ऐसी भूलों को कोई प्रेम पूर्वक सूचित करेगा तो मैं उनका कृतज्ञ हूंगा, [परन्तु मैं यह पहले ही कह देता हूं कि मैं वाद विवाद में उतरने को राजी नहीं हूं.]

प्रकरण २.

श्री महावीर स्वामी के समय से लोंकाशाह के समय तक का संक्षिप्त दिग्दर्शन ॥

जब चोथे आरे के ७५ वर्ष बाकी रह गये थे तब भरत क्षेत्र के मध्य खंडान्तर्गत बिहार प्रान्त के पूर्वकी ओर कुंडलपुर के पास क्षत्रिय कुंड नामक गांव में सिद्धार्थ राजा की त्रिशिला देवी नाम की पटरानी की कुक्षि से अन्तिम तीर्थ कर श्रीमान् महावीर स्वामी का जन्म हुआ (चैत्र शुक्ल १३ मंगलवार उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के पहले पाये में विक्रम सं० ५४२ वर्ष पहले यह हुए हैं.) इन्होंने ३० वर्ष गृह स्थाश्रम में रह कर मार्ग शीर्ष कृष्ण १० याने अमान्त मार के हिसाब से कार्तिक कृष्ण १० के दिन दीक्षा ग्रहण की उस समय चौसठ इन्द्रों ने तथा श्री महावीर के भाई नन्दी- वर्धन ने बड़ी धूम धाम के साथ दीक्षा महोत्सव किया साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने अनेक कष्ट सहे और वैशाख शुक्ल

१० के दिन उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई. सर्वज्ञ होने के बाद वे सब जीवों पर समान दया भाव धारी होकर जगह २ घूमकर सदुपदेश देने लगे, जिसका वर्णन उववाइ सूत्र में किया है। इन के उपदेश से ११ गणधर, १४००० साधु और ३६००० साध्वी बने, इन में से ७०० केवल ज्ञानी हुए तथा १५९००० श्रावक ३१८००० श्राविका हुई। इस तरह भव्य जीवों का उद्धार करते हुए ३० वर्ष तक केवल्य प्रवृज्या का पालन कर पावापुरी नगरी के हस्तिपाल राजा की शाला में कार्तिक वदी अमावस्या के दिन स्वाती नक्षत्र में सब कर्मों का क्षयकर मोक्ष धाम को पहुंचे, इसी समय से जैनों में वीर संवत् चला, जिसे २४३५ वर्ष हो गये।

चौवीसवें तीर्थंकर श्री महावीर देव चौथे आरे के अन्त समय में हुए उन के कायोत्सर्ग के बाद तीन वर्ष और साढ़े सात महीने हो चौथा आरा चला। बाद पांचवां आरा बैठा—चतुर्थ काल पूरा हुआ और पंचम काल लगा।

महावीर के ४७० वर्ष बाद बिक्रमादित्य ने अपना संवत् चलाया जिसे १९६५ वर्ष हो गये। इस से सिद्ध हो-

ता है, कि आज से ४७०+१९६५=२४३५ वर्ष पहले तो भूत भविष्य और वर्तमान के जानने वाले-सर्व संशयों के दूर करने वाले पुरुष संसार में प्रत्यक्ष विद्यमान थे और किसी को कर्म सिद्धान्त, दया भाव और जैन धर्म पर शंका करने का कोई कारण ही नहीं था। हां, कुछ दुष्कर्मी जीव पहिले भी थे और आगे भी रहेंगे यह बात दूसरी है।

कहा जाता है कि महावीर देव को वन्दना करने को शकेन्द्र आया था। उस ने एक दफे पूछा कि "हे भगवान ! आप के जन्म नक्षत्र में तीसवां भस्मग्रह २००० वर्ष की स्थिति का बैठा है यह क्या सूचना देता हे ?" भगवान ने उत्तर दिया कि "२००० वर्ष तक श्रमण-निर्ग्रंथ साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका की उदय पूजा नहीं होगी. इस भस्मग्रह के उतर जाने के बाद फिर धर्म चमक उठेगा और पूज्य पुरुषों का आदर सत्कार होगा।" यह भविष्य कथन बिलकुल सत्य होता दिखाईदे रहाहै। क्योंकि महावीर निर्वाणके ४७० वर्ष बाद विक्रम सं० चला और विक्रमसं० १५३१ में लोंकाशाह ने जैन धर्म के तत्वों को ढूंढ निकाला-अर्थात् २००१ वें वर्ष में लोंकागच्छ की उत्पत्ति हुई, और उत्पत्ति

होने के साथ ही चारों और फैला। और उसके उपदेशक जगह २ पूजा सत्कार पाने लगे ! थोड़े ही समय में उस धर्म में लाखों आदमी हो गये। उससे ज्ञान होता है कि भगवान की वाणीके अनुकूल लोंकाशाहका स्थापित किया हुआ स्थानकवासी या साधुमार्गी जैन धर्म बिलकुल सच्चा है। इस में कोई सन्देह नहीं हैं। इसको न मानना न्याय शास्त्र को नहीं माननें जैसा है—लॉजिकका तिस्कार करने तुल्य है।

श्री महावीर के बड़े शिष्य गौत्तम ऋषि को कार्तिक शुक्ल १ के दिन प्रभात समय में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे १२ वर्षतक तप कर कर्मो का नाश कर मोक्ष धाम को गये।

(१) श्री गौत्तम को जिस दिन केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई उस दिन श्री महावीर के पाट पर पांचवे गणधर सुधर्मा स्वामी को बिठाया गया। ये सुधर्मा स्वामी कोलक गांव के वैशायन गोत्री थे। यह ५० वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे। ३० वर्ष भगवान की सेवा में रहे, १२ वर्ष तक गुप्त रीति से आचार्य पद पर रहे और फिर केवल ज्ञानी हो ८ वर्ष के बाद (महावीर के २० वर्ष बाद) मोक्ष धाम को गये।

(२) इन के बाद जम्बू स्वामी पाट पर विराजे। इन का जन्म राजगृह नगरी के कास्यप गोत्री ऋषभदत्त सेठ की धर्मपत्नी धारणी की कूख से हुआ था। १६ वर्ष तक गृहस्थाश्रम चलाया, बाद ८ स्त्री और नन्नानवें करोड़ का मालमत्ता छोड ५२७ मनुष्यों के साथ दिक्षा ली, और ८० वर्ष की अवस्थामें मोक्ष को पधारे. श्री महावीर स्वामी के मोक्ष को जाने के बाद १२ वर्ष तक गौत्तम स्वामी ८ वर्ष तक सुधर्मा स्वामी और ४४ वर्ष तक जम्बू स्वामी केवली के पद से सुशोभित रहे। इन के बाद कोई केवली उत्पन्न नहीं हुआ—अर्थात् केवल ज्ञान का विच्छेद हुआ।

जम्बू स्वामी के मोक्षगमन के समय (विक्रम से ४०६ वर्ष पहले) दस बोलका विच्छेद हुआ (१) मनः पर्यवज्ञान (२) परमावधिज्ञान (३) पुलाक लब्धि (४) आहारक शरीर (५) कैवल्य (६) क्षायक सम्यक्त्व (७) जिन कल्पी साधु (८) परिहारविशुद्ध चारित्र (९) सूक्ष्म संपराय चारित्र और (१०) यथाख्यात चारित्र ये दस बोल जाते रहे। ऐसा होने पर भी पाखंडी यहां तक कह देने की हिम्मत कर बैठते हैं कि हम केवलज्ञानी हैं.

और आश्चर्य इस बात का है ऐसों को सूत्रों का आस्तिक मध्यम वर्ग नहीं परन्तु . विचारस्वातन्त्र्यका पक्षपाती सुधार हुआ वर्ग भी मानने लग जाता है ! हिपनोटिज्म और मेस्मेरिज्म की विद्या के जानने वाले कहते हैं कि यह विद्या सुधरे हुए मनुष्यों पर अच्छी तरह अजमाई जा सकती है । और धर्म के विषय में भी ऐसा ही हुआ है । सुधरे हुए मनुष्य धर्म सम्बन्धी पालिस किये हुए ढोंगों में बहुत जल्द गिरफतार होजाते हैं । भवतु ! हमें ऐसे सुधरे हुए लोगों से कुछ लेना देना नहीं है हम तो फिर अपने इतिहास की ओर झुकते हैं ।

(३) जंबू स्वामी के वाद प्रभवास्वामी हुए । ये वीर सम्वत ७६ में देवलोक को गये फिर (४) स्वयंभव स्वामी ९८ वें में (५) यशोभद्र स्वामी १४८ में और (६) संभूतिविजय १५६ वें वर्ष में देवलोक हुए इनके वादः—

[७] भद्रबाहु १७० वें वर्ष में.
[८] स्थूली भद्र २१५ ,,
[९] महागिरी स्वामी २४६ ,,

[१०] सुहस्ती स्वामी २६५ ,,

[११] सुप्रतिबुद्ध ३१६ ,,

[१२] इन्द्रदीन
[१३] आर्यदीन } ३१३–५८४ वर्ष में
[१४] वयर स्वामी

[१६] व्रजसेन स्वामी ६२० ,,

में देवलोक गये अब इन में से १४ वें तक का संक्षिप्त परिचय यहां पर देते हैः—

(३) प्रभव स्वामीः—विंध्या पर्वत के पास जयपुर नाम नगर के राजा विंध्य के ये बेटे थे। राजा के साथ विरोध हो जाने से ये बाहर निकले थे, इनका गोत्र कात्यायन था. ३० वर्ष तक गृहवास कर इस वीरने दीक्षा ग्रहण की थी. वीर के ७५ वें वर्ष में इसने अपना १०५ वर्ष का आयु पूर्ण किया [विक्रम के ३९५ वर्ष पहले],

(४) स्वयंभव स्वामीः—राजगृह के इस वात्स्यायन गोत्री महाशय ने २८ वर्ष गृहस्थाश्रम का पालनकर दीक्षा

ली और ११ वर्ष पश्चात् युग प्रधान की पदवी प्राप्त की और ६२ वर्ष की उम्र भोग ९८ वे वीर संवत् में स्वर्गवास किया [वि. पू. ३७२ वें वर्ष में.]

(५) यशोभद्र स्वामीः—तुंगीयायन गोत्र, २२ वर्ष गृहवास. १४ वर्ष व्रत पर्याय, ५० वर्ष युग प्रधान पदवी ८६ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास [वीर संवत् १४८ और विक्रम पूर्व ३२२ वर्ष-]

(६) संभूति विजय स्वामीः—माढर गोत्र ४२ वर्ष गृहवास, ४० वर्ष व्रत पर्याय ८ वर्ष युग प्रधान पदवी, ९० वर्ष उम्र [वीर संवत् १५६ वि. पू. ३१४ में] स्वर्गवास।

(७) भद्रबाहु स्वामीः—प्राचीन गोत्री ४६ वर्ष गृहवास, १७ वर्ष व्रतपर्याय, १४ वर्ष युग प्रधान पदवी, ७६ वर्ष की उम्र में [वीर संवत् १७० वि. पू. ३००] स्वर्गवास इनके भाई का नाम वराहमिहिर था. इन्होंने जैन साधुपन छोड़कर " वराह संहिता " बनाई. मुझे मिली हुई पुस्तकों में से एक में लिखा है कि:—ये मुनि अखीरी चौदह पूर्वधारी थे। इनके समय में अकाल पडने से चतुर्विध संघ को बडा संकट

हुआ । उस समय पाटलीपुत्र शहर में श्रावकोंका संघ इकट्ठा हुआ और सूत्रोंके अध्ययन आदिका निश्चय किया तो कुछ फरफार जान पडा । ऐसा देखकर इन्होंने दो साधुओं को नेपाल देश में से भद्रभाहु स्वामी को बुलाने को भेजा, उन्होंने संयोगोंका विचार कर १२ वर्ष वाद आने को कहा, बारा वर्ष का अकाल पूरा होजाने पर साधु इकठे होकर सूत्रों को मिलाने लगे, ज्ञान का विच्छेद होता देखकर स्थूलभद्रादि ५ साधुओं को भद्रवाहु स्वामी के पास नेपाल भेजे । चार साधु तो हिम्मत हार गये परन्तु स्थूलभद्रने दस पूर्व का अभ्यास किया । ग्यारवें पूर्व का अभ्यास करते समय उन्हें विद्या अजमाने की इच्छा हुई इससे जब भद्रबाहु स्वामी बाहर गये तब स्थूलभद्र-सिंह का रूपकर उपाश्रयमें बैठे। गुरु ने पीछे आकर यह सब देखा इससे उन्हें विचार आया कि अब ऐसा समय नहीं रहा कि विद्याको कायम रख सके या पचा सके। और आगे पढ़ाना बन्द कर दिया " ऐसा करने पर भी जब श्री संघ का बड़ा ही आग्रह देखा तब बाकी के पूर्व का मूल मात्र पाठ सिखाया, अर्थ नहीं बताया । स्थूलभद्र के समय के

बाद चार वर्ष में प्रथम संहनन, प्रथम संस्थानका विच्छेद हो गया।

(८) स्थूलभद्र स्वामीः—पाटली पुत्र के गौतम गोत्री सगडालके बेटे, ३० वर्ष गृहवास, २४ वर्ष व्रतपर्याय, ४५ वर्ष युग प्रधान पदवी, ९९ वर्ष की उम्र में (वीर संवत् २१५ वर्ष में विक्रम पूर्व २५५ में) स्वर्गवास।

(९) महागिरि स्वामीः—लापत्य गोत्र, ३० वर्ष गृहवास, ४० वर्ष व्रतपर्याय १०० वर्ष युग प्रधान पदवी १०० वर्ष की उम्र में (वीर संवत् २४५ वि. पू. २२५ में) स्वर्गवास, इस समय में आर्यमहागिरि के शिष्य व इनके शिष्य उमा स्वामी और इनके शिष्य शामाचार्य ने पन्नवणा सूत्रकी रचना की और वीर संवत् ३७६ में स्वर्ग पाया।

(१०) सुहस्ती स्वामीः—वसिष्ठ गोत्र, ३० वर्ष गृहवास २४ वर्ष व्रतपर्याय ४६ वर्ष युगप्रधान पदवी, १०० वर्ष की उम्र में वीर संवत् २९१ वि. पू. १७९ में स्वर्गवास. इन आचार्य के पास अवन्ती सुकुमालने ३२ स्त्रियों को छोड़ दीक्षा ग्रहण की।

(११) सुप्रतिबुद्धः—व्याघ्रापत्यगोत्र ३१, वर्ष गृहवास, १७ वर्ष व्रतपर्याय, ४८ वर्ष युग प्रधान पदवी ९६ वर्ष की उम्र में (वीर संवत् ३१९ वि. पू. १३१ में) स्वर्गवास ।

सुधर्मा स्वामी से दस पाटतक तो अणगार तथा निर्ग्रंथ कहे जाते थे, परन्तु ग्यारवें पाटसे [सुप्रतिबुद्ध आचार्य ने काकंदी नगरी में करोड़ों दफे सूरी मंत्र का जप करने की वजह से] " कोटी काकंदी गच्छ " नाम पड़ा ।

[इसी समय में प्रथम कालकाचार्य हुए और श्याम वर्ण होने से श्यामाचार्य भी नाम पड़ा ।

[१२] इन्द्रदीन स्वामीः—कौशिक गोत्री.

[१३] आर्य दीन स्वामीः— गौत्तम गोत्री.

[१४] वयर स्वामीः—गौत्तम गोत्री. वीर संवत् ४९६ में जन्म, ८८ वर्ष की उम्र में वीर संवत् ५८४ में स्वर्गवास. बौद्ध राजाओं के समयमें इन्होंने दक्षिण में जैन धर्म का प्रचार किया था.

वीर के बाद ६० वर्ष तक पालक राजा ने अवन्ती में राज्य किया. इस के बाद पाटलीपुर में नवनन्दन १५५ वीर संवत तक राज्य किया। बाद चंद्रगुप्त–बिन्दुसार–अशोक–कणाल–संप्रति इन पांच राजाओंने १०८ वर्ष राज्य किया. इनके बाद पुष्पमित्र ने ३० वर्ष, बलमित्र और भानुमित्र ने ६० वर्ष. नभवाहन ने ४० वर्ष, गर्दभिलने १३ वर्ष और सकोकाने ४ वर्ष यों वीरके बाद २१ राजाओं ने ४७० वर्ष तक राज्य किया और वीर संवत् ४७१ वें वर्ष में विक्रम संवत् चला। इस विक्रम ने परदुःखभंजन नाम बहुत ठीक पाया; इसी ने जाति व्यवस्था, न्यायनीति, और वर्ण आदि की परपाटी चलाई।

इसका मन्त्री सिद्ध सेन नामक कात्यायन गोत्री ब्राह्मण था। इस ने बहुत विद्या पढ़ अनेक पंडितों को शास्त्रार्थ में हरा भरोंच में प्रवेश किया। यहां वृद्धाचार्य के साथ चर्चा करने की इसकी इच्छा थी; परन्तु वृद्धाचार्य विहार कर गये थे इस से यह उन के पीछे हुआ और मार्ग में ही उन्हें जा मिला। और ग्वालों के साम्हने ही चर्चा शुरु कर दी। वृ-

द्धाचार्य ने ग्वाल समझ सके ऐसी भाषा बोल शास्त्रार्थ में विजय पाया। बाद उन्होंने राज सभा में चर्चा की यहां भी आचार्य जीते और सिद्धसेन इनका शिष्य हो गया। संस्कृत ज्ञान के अभिमान से एक बार सिद्धसेन ने नवकार मन्त्रका संस्कृतानुवाद करने की इच्छा की इससे गुरुने उन्हें गच्छ से बहार निकाल दिया। जब संघ बीचमें पड़ा तो आचार्य ने आज्ञा की कि जब यह किसी महाराज को धर्म में लाकर धर्मकी प्रभावना करेगा तब इसे गच्छ में लूंगा. इससे बारह वर्ष तक इन्होंने धर्म की प्रभावना की और बड़े ग्रन्थ बनाये और राजाओं को जैनी बनाये अन्त में यह गच्छ में लिये गये; ऐसा ग्रन्थों में लिखा है।

(१५) महावीर के १५ वें पाट के स्वामी श्री वज्रसेन स्वामी वीर संवत् ६२० में देवलोक हुए। इनके समय से ४ गच्छ स्थापित हुए इन चारों में से ही वर्तमान समय के ८४ गच्छ निकले हैं।

इसका वृत्तान्त यह है कि वज्रसेन स्वामी के समय में ५ वर्ष का एक और ७ वर्ष का एक यों बारह वर्ष का

अकाल पडा ! जिस समय में दूसरे ५२ देशों से अन्नादि लाने का रेल स्टीमर जैसा साधन नहीं था, ऐसे समय में बारह २ वर्ष का अकाल पड़ जाय तो कितना भयंकर समय हो सकता है। जिसका विचार भी हृदय को त्रास दायक होता है ! उस समय लखपति लोग भी भूखों मरने लगे तो फिर विचारे 'भिख्खुओं' को कहां से खाने को मिलता ?

ऐसे भयंकर समय में—खराखरी के समय में मरद के सिवाय कौन ठहर सकता था ? सच्चे क्रियावान ७८४ साधु तो संथारा कर मनुष्य भव सार्थक किया, कितने ही भूखे मरते रहने पर भी वहीं पडे रहे और कितनों ने ही " देखो भाई ! मरना तो पटापट लगा हुआ है, बच्चे तक मरे जाते हैं। ऐसे समय में भगवान को नैवेद्य भेट चढाकर परलोक सुधार लेना चाहिये " ऐसी २ बातें बनाकर अपने पेट भरने के मार्ग निकाल लिये।

इस समय में जिनपद नामका एक धनाढ्य श्रावक मरने पड़ गया। इसको वज्रसेन स्वामी ने शुभसूचक भविष्य कहा कल दिशावर से अन्न की भरती आवेगी; आपघात न करना.

इस उपकार के बदले इसने अपने चार बेटों को इन मुनि के शिष्य बना दिये । चंद्र, नागेंद्र, निवृत्ति और विद्याधर. इन चारों मुनियों ने खूब विद्याभ्यास किया; परन्तु गुरुकी आज्ञा में न रहकर ४ नये गच्छ बना लिये ।

यों पन्द्रह पाट तकका समय व्यतीत हुआ. इसके बाद आर्यरोह स्वामी, पुशगिरी स्वामी, फल्गुमित्रस्वामी धरणीधर स्वामी, शिवभूतिस्वामी, आर्यभद्रस्वामी, आर्यनक्षत्रस्वामी, आर्यरक्षितस्वामी, नागस्वामी, जेहिलस्वामी, विष्णुस्वामी, सढाल, अणगार और सत्ताइसवें देवर्द्धि क्षमाक्षमण हुए ।

वीर संवत् ९८० और विक्रम संवत् ५१० में देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने महावीर प्ररुपित तत्त्वों को वल्लभीपुर नगर में पुस्तकारुढ किये अर्थात् सूत्र लिखे ।×

×सूत्र लिखने के बारे में प्रसिद्ध है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण एक बार सूंठका गांठिया बेर लाये थे परन्तु उसको वापरना भूल गये । कुछ काल के बाद उन्हें यह बात याद आई इससे उन्होंने विचार किया कि मनुष्यों की स्मरण शक्ति कम होती जाती है और शास्त्र याद न रहेंगे इससे अच्छा हो कि पुस्तकें तैयार की जाय. इसी दूरदर्शिता से प्रेरित हो शास्त्र लिखे ।

वीर संवत् ९८० तक की कितनी ही तारीखी बात लिखने जैसी है. वीर संवत् १६४ में चन्द्रगुप्त राजा हुआ, ४७० में विक्रम संवत् चला, ६०५ में शालिवाहन शक चला, ६०९ में दिगम्बर पंथ * चला. ६७० में सांचोरमें वीर स्वामी की प्रतिमा स्थापित हुई और ८८२ में चैत्यवास (मंदिर) शुरू हुआ।

*मारवाड़वाली पट्टावली में लिखा है कि बुटक नामक साधु को आचार्य ने एक कीमती वस्त्र दिया था। बुटकने ममताकर उस वस्त्रको बांध रक्खा और पलेवण तक छोड़ दिया गुरुने इस अयत्ना को दूर करने के लिये उस वस्त्रका फाड़ 'मुहपति' बना साधुओं को बांट दी बुटक इससे नाराज हो गया और जैन धर्म से द्वेष करने लगा। उसने सब वस्त्र फेंक दिये और दिगम्बरहो घूमने लगा और नये २ शास्त्र बना लिये "स्त्रियोंकी मोक्ष नहीं होती; वस्त्र पहने वह साधुही नहीं" इत्यादि बातें चलाई. इस तरह इस पट्टावली को देखने से मालूम होता है. दिगंबरी मत वीर संवत् ६०९ में चला (हमारे नजदीक ऐसा मानना किसी तरह ठीक नहीं है। वस्त्रकी बात से नाराज हुए साधुने नया पंथ निकाला यह बात हंसी में उड़ाने योग्यहै. सही बात तो यह है कि इतिहास लिखनेकी यहांकी परिपाटी न होने से ऐसा इर्ष्या-द्वेष पूरित दन्तकथायें चल गई हैं-)

श्रीवीर के बाद १४६४ वें वर्ष में बडगच्छ, और १६५४ में अंचलगच्छ और १६७० में खरतरगच्छ कायम हुआ। इस खरतरगच्छ के श्री जिनचन्द्रसूरिने 'संघपट्टक' नामका प्रसिद्ध ग्रन्थ बनाकर शुद्धाचार और अहिंसा की प्ररूपणा की है तथा चैत्यवासियों की खूब खबर ली है। यह गच्छ १७६७ तक तो खूब चला परन्तु इसके बाद इसमें भी छिन्न-भिन्नता का प्रवेश हुआ और इसमें से १० शाखा निकली.

वीर संवत् १७२० में आगमिया गच्छ और १७५५ में तपगच्छ निकला. चित्रवाल गच्छ के जगचंद सूरिसे तप-गच्छ निकला था; इस गच्छ में से और तेरह गच्छ निकले थे।

प्रकरण. ३

लोंकागच्छ की उत्पत्ति और वंशावली.

हम लोगों में इतिहास लिखने की प्रथा कम होने से एक जबरदस्त धर्मसुधारक (martyr) और 'जैन मिशनरी' के संबन्ध में आज हम बहुत करके अंधेरे में ही हैं। जिस समय चारों और अंधेरा छा गया था, शिथिलता हो गई थी, उस समय खरतरगच्छ ने और उसमें भी खासकर संघपट्टककार श्री जिनचंद्रसूरिने प्रकाश फैलाया था, परन्तु उनका उपदेश भारत में चौतरफ नहीं फैला था। इनकी आवाज़ बहुत बुलन्द नहीं थी. परन्तु इनसे भी बुलंद आवाज़वाला, मजबूत नसवाला और दृढ हिम्मत (Moral courage) वाला एक पुरुष थोडे ही समय में हुआ जिसने रेल, तार, डाक आदि की किसी प्रकार की सहायता न होते हुए भी भारत के एक भाग से दूसरे भाग तक शुद्ध जैन धर्मका उपदेश फैला

दिया। इतना होने पर भी अभी हम उनके खुदके चरित्रके बारे में अंधेरे में है। चारों ओर चैत्यवासियों का इतना जोर था कि ऐसा वैसा मनुष्य तो उनके विरुद्ध प्ररूपणा कर जिन्दा ही नहीं रह सकता था, ऐसे समय में हजारों लाखों चैत्यवासियोंको शुद्ध जैन धर्म समझा कर अपना गच्छ स्थापन करनेवाले लोंकाशाह कौन थे, कब और कहां कहां घूम फिरे ये इत्यादि बातें आज भी हम पक्की तरह नहीं कह सकते। जो कुछ बातें उनके बारे में सुनने में आती हैं; उनमें से मेरे ध्यान में मानने योग्य यह जान पडती है कि श्रीमान् लोंकाशाह अहमदाबाद शहर के प्रसिद्ध साहूकार थे। इनका राजदर्बार में बड़ा मान था। इनके हस्ताक्षर बड़े सुन्दर थे, इनकी स्मरणशक्ति बडी तीव्र थी। एक दफे यह उपाश्रय में गये; वहां ज्ञानजी आदि यति पुस्तकों को ठीक जमा रहे थे। और जीर्ण ग्रन्थों की दशा देख कर खेद पा रहे थे। एक यति ने लोंकाशाह से यांही हंसी ही हँसी में कहा "शाहजी! आप के अक्षर बहुत ही अच्छे हैं; परन्तु हमारे किस कामके? इस भंडार का उद्धार करने से यह कुछ काम आवेंगे?"

जिसका स्वभाव ही सदा कुछ न कुछ उपकार करनको था ऐसे लोंकाशाह ने उत्तर दियाः "बड़ी खुशी से, हो सकेगा इतने शास्त्रों की नकल कर देने को मैं तैयार हूं."

इसी समय से इन्होंने एक के बाद दूसरा सूत्र लिखने में ही दिन बिताना शुरू किया. श्री दशवैकालिक सूत्र में "धम्मो मंगल मुक्किठं अहिंसा संजमो तवो" ऐसा पाठ उन के वांचने में आने से ओर साधुओं का व्यवहार हिंसामय देखने में आने से उन्हें इच्छा हुई कि धर्मका सच्चा स्वरूप ढूंढना चाहिए। शास्त्रों के लिखने से उनका ज्ञान बहुत बढ गया. यह बात सच है कि एक पुस्तक बाचने की अपेक्षा लिखने से दस गुणा ज्ञान बढता है। कारण कि वाक्य लिखने में जितना समय लगे उतने में वह मस्तक में अच्छी तरह जंच जाता है।

उतारने को लिये हुए शास्त्रों में से एक २ प्रति यतिओं के लिये और एक २ अपने घरू उपयोग के लिये लिखी। इस तरह लोंकाशाह के पास एक अलेसं अच्छा जैन साहित्य इकठ्ठा हो गया। ...

शाह जैन शास्त्रों को खूबियां समझते गये वैसे ही वैसे दो दो प्रति उतारने का काम खुद न कर किसी लेखक के पास कराते गये होंगे; कारणकि खुद श्रीमान् श इससे दूसरी नकल करने जितना समय उन्होंने बचा कर और २ शास्त्रों के देखने में बिताया होगा।

इस तरह लोंकाशाह पहले 'विद्यार्थी' और फिर 'संशोधक' हुए. वर्षों तक शास्त्र लिखने का और एकान्त में विचारने का काम करते थे. वे इस काम को Lobour of love की रीति से अपने अन्तरीक प्रेम से करते थे. न कि किसी भांति के बदले के लिये। पुण्योदय के प्रभाव से वे धनवान थे; उन्हें खाने पीने की कोई चिन्ता नहीं थी, धर्म सम्बन्धी ऐसे महाभारत काम ऐसों से ही हो सकते हैं।

इसी अर्से में अर्थात् १५२८ में अणहिलपुर पाटण से लखमसी नामका साहूकार अहमदाबाद आया। लोंकाशाह के साथ धर्म चर्चा करने का मौका मिला और धर्म का सत्य स्वरूप समझ में आया. अब लखमसी को स्मरण हुआ कि (?)गार प्रभु के निर्वाण समय से बैठा भस्मग्रह उतरने वाला

है, इस से सत्य धर्म फैलाने को जो कुछ प्रयास किया जायगा सफल ही होगा। इस विचार से दोनों को हिम्मत आई और उन्होंने हर तरह की जोखम माथे पर ले धर्मवीर (martyr) बन कर दुनियां को तारने का निश्चय किया।

लखमसी ने अपने गाँव जाकर वहां भी सूत्र लिखना लिखाना, पढना–पढाना, बांचना, बंचाना शुरू किया और बहुत जीवों को दान दिया।

एक समय अरहटवाडा, पाटन; सूरत आदि के चार संघ अहमदाबाद में आ पहुंचा और बरसात बहुत ज्यादा होने से उन्हें नियमित समय से ज्यादा ठहरना पड़ा। संघ के गृहस्थ यतिओं के पास व्याख्यान सुनने को जाते थे वहां लोंकाशाह का नाम उनके सुनने में आया। वे कुतूहल के लिये लोंकाशाह के घर गये, नागजी, दलीचन्द, मोतीचन्द और शंभुजी नाम के चारों संघवी भी और २ श्रावकों के साथ लोंकाशाह का उपदेश सुनने को गये. लोंकाशाह ने शुद्ध मुनिमार्ग और दया धर्म समझाया. इससे उन्हें आनन्द और आश्चर्य हुआ। कुतूहलवश आये थे परन्तु लोंकाशाह प्रति

पूज्य भाव धारण कर गये। उन्होंने एक के वाद एक सवाल करना शुरू किया और लोंकाशाह ने ठीक ठीक उत्तर दिये। अखीर में संघवीओं ने पूछा कि मूर्ति पूजा शास्त्रोक्त है या क्या? इसके उत्तर मे लोंकाशाह ने कुछ सादी २ बातें कही. इस पुस्तक में मेरा विचार नहीं है तथापि मुझे मिली हुई पुस्तकों में जो शब्द लोंकाशाह के मुख के रक्खें हैं उनका सार यहां पर लिख देना अनुचित नहीं है। लोंकाशाह ने संघवीओं को उत्तर दिया कि:—

(१) भगवान ने आचारांग, सुयगडांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवति आदि सिद्धान्तों में किसी जगह नहीं लिखा कि साधु या श्रावक को मूर्ति को मानना-पूजना या दंडवत करना चाहिए, और न ऐसा करने का फल ही लिखा है।

(२) राजग्रही, चंपा, हस्तिनापुरी, द्वारिका, सावन्ती, तुंगिया, अयोध्या, वनिता, मथुरा आदि बहुत नगारियों का वर्णन सिद्धान्तों में किया है उस में यक्ष और भूतों के मन्दिरों का वर्णन किया है परन्तु कहीं भी तीर्थंकर की प्रतिमा या मन्दिर का जिक्र नहीं किया. जो सचमुच जिनदेव की

प्रतिमा या मूर्ति होती तो यक्ष मन्दिरों की तरह उसका भी वर्णन अवश्य किया जाता।

(३) बहुत से श्रावकों का वृत्तान्त सूत्रों में दिया है। उस में परदेशी राजा के द्वारा दान शालाऐं बनाने का, श्रेणिक राजाके 'अमर' घोष कराने का, श्रीकृष्ण की धर्म दलाली कर हजारों पुरुषों को दिक्षा दिलवाने का—आदि अधिकार चला है। परन्तु सूत्र में कहीं भी किसी श्रावक के मन्दिर बनवाने का या प्रतिमा स्थापित करने का अधिकार नहीं चला।

संखपोखली, उदाईराजी, अरणीक, आणंदजी ऐसे बहुत अच्छे श्रावक श्राविकाओं का अधिकार चला है, परन्तु इनके इतिहास में कहीं भी जैन मूर्ति पूजने का अधिकार नहीं आया। हां उन्होंने सुपात्रों को दान दिये हैं, अष्ठमी चतुर्दशी के पोषध किये हैं, ग्यारह पडिमा (प्रतिमा) का आदर किया है, कितनों ही ने संथारे किये हैं: ऐसी २ बहुतसी बातों का उल्लेख किया है। जो मूर्ति पूजा उस समय ये लोग करते होते तो उसका भी उल्लेख अवश्य ही होता. (और इनके परिवार और घरका वर्णन भी उस में है परन्तु नहीं लिखा कि किसी के घर में देवरा या प्रतिमा थी.)

(४) शास्त्रों में मुनियों को पंचमहाव्रत धारक, और पंच आचार के पालक कहा और पांच आश्रवका सेवन करने वाले को कुगुरू बताया है, इतना ही क्यों कुगुरू को असाधुको साधु मानना मिथ्यात्व कहा है (श्री ठाणांगजी सूत्र.)

(५) प्रश्न व्याकरण नामक जैन सूत्र में प्रतिमा के स्थापन करने वाले, पूजने वाले देव तुल्य मान कर उसके लिये हिंसा करने वाले नरक गति के अधिकारी बताये है । श्री आचारांग सूत्र मे भी इस बात पर खूब जोर दिया है ।

ऐसी सादी परन्तु साफ दलीलों के सुनने से संघवी और उन के साथियों को ज्ञान हुआ. परन्तु जब यतिओं ने सुना कि ये लोग लोंकाशाह के यहां बार बार जाते हैं तब वे लोंकाशाह पर कोपायमान हो गये । और संघवी से कहा कि " संघ के मनुष्यों को खर्च की तंगी होगी इस लिये संघको दूसरे गांव को रवाना होने दो " संघवीने उत्तर दिया कि " अभि पानी खूब गिरा है, इससे बहुत से जीवों की उत्पत्ति हुई है और कीचड भी हो गया है. ऐसे समय में जाना

योग्य नहीं है। " यति न कहा कि " ऐसा धर्म तुम्हें किस ने सिखाया ? धर्म के काम में जो हिंसा हो वह हिंसा ही नहीं है क्योंकि हिंसा की अपेक्षा लाभ ज्यादा है. "

संघवी इस बचन से बडे दुःखी हुए, क्या यह जैन यति के मुख का उत्तर है ? दया हीन महाव्रतरहित ऐसे असंयती को संयती कहा ही कैसे जा सकता है ? ऐसा न सोच संघवी ने यतिकी खूब निर्भत्सना की और इसी समय से कितने ही तो खुल्लमखुल्ला लोंकाशाह की ओर हो गये और कितने ही पूरे हिम्मत बहादुर न थे वे अपने २ घर गये, परन्तु अन्तःकरण उनका भी लोंकाशाह की ओर झुक गया था। वेभी लोंकाशाह की प्रशंसा करते और लोंकाशाह की कही हुई दलीलें जिस किसी को सुनाते थे।

इस तरह गुजरात की राजधानी अहमदाबाद जो व्यापार का केन्द्र होने से कई आदमी व्यापार करने को, कई शहर देखने को, कई यात्रा करने को वहां आते थे, और लोंकाशाह का उपदेश सुन उनकी ओर खिच जाते थे, परन्तु इस समय तक लोंकाशाह ने अपने सम्पादित ज्ञान को चो-

तरफ फैलाने के लिये कोई खास योजना न की थी अभी तक उन्होंने कोई " मिशन "–" गच्छ ', या " संघाडा " नहीं स्थापित किया था।

दीक्षा के कितने ही उम्मीदवारों ने श्रीमान् लोंकाशाह से प्रार्थना की कि जो शाहजी दीक्षा लेकर मार्ग खोल दे तो बहुत से भव्यजन इस मार्ग पर चलने को तैयार हैं। लोंका-शाह ने जवाब दियाः " मैं इस समय बिल्कुल बूढा और अपंग हूं. ऐसे शरीर से साधु की कठिन क्रियायें सधना अशक्य है। क्योंकि जिस समय भ्रष्टाचार चारों ओर फैल रहा हो ऐसे समय में दृष्टान्त बैठाने के लिये जो दीक्षा ग्रहण की जाय वह तो अति शुद्ध होनी चाहिए। सिवाय इसके मेरे जैसा मनुष्य दीक्षा लेकर जितना उपकार कर सकता है उस से ज्यादा उपकार संसार में रहकर कर सकता है। इन २ कारणों से मै तुम्हें दीक्षा लेने की इजाजत देता हूं " यों कह कर लोंकशाहने ४५ पुरुषों को दीक्षा की विधि समझाई और दीक्षा दी (सम्वत १५३१) इन ४५ साधुओं ने अपने उपकारी का नाम अमर रखने के लिये अपने गच्छ का नाम ' लोंकागच्छ ' रक्खा।

इस तरह लौंकागच्छ की उत्पति हुई. वह कोई नया धर्म नहीं था; नया तूत नहीं था. श्रीमान् लौंकाशाह ने अपने को मनाया या पुजाया नहीं, खुद शुद्ध धर्म का उपदेश किया और उस उपदेश के अनुसार दूसरों ने शुद्ध धर्म को फैलाने वाला " गच्छ " (फिर इसे संवाड़ा कहो चाहे मिशन कहो) स्थापित किया. अंग्रेजी जानने वाले मनुष्य अच्छी तरह जानते हैं कि " मिशन " कितनी पवित्र चीज़ है। किसी परोपकारी आशय को चित्त में रख उसकी सिद्धि के लिये गांव २ घूमने का निश्चय कर घूमने वालों की टोली को मिशन कहते है। गच्छ या संघाड़े का भी यही आशय है; परन्तु आज कल कुछ की कुछ दशा इनकी हो गई है। एक गच्छ का उपदेश दूसरे से प्रथक् न होना चाहिये. एक गच्छ एक ओर काम कर रहा है तो दूसरे को दूसरी ओर काम करना चाहिये; न कि एक दूसरे की नींव खोदे एक दूसरे से विरूद्ध प्ररुपणा करे। और मैं मैं तू तू में पड कर सर्वमान्य पिता महावीर को लांछित करने के कारण भूत हो. धर्म में " गच्छ " और संसार व्यवहार में " जाति " या 'वर्ण' नाम की संस्था जगह २ डेढ़ अकल के लोगों की बतीसी पर चढ़ रही है ! और इनको बेहद अन्याय की दृष्टि से देखा

जाता है। कितने ही स्वयंबुद्ध-केवलज्ञानी (!) इनके मूल में कुठारा का प्रहार करने में ही अपनी बहादुरी समझते हैं। कितने ही अध्यात्माभिमानी (!) गच्छ के भेदों को गोटाले का रूप देकर संघ के बंधन को जड़ से उखाड़ फैंकने को कमर कस बैठे हैं। और शास्त्र के एक दो ऊपर ऊपर के मुद्दाओं से अपने को ज्ञानियों में गिनाते हैं। इस स्थिति को ठीक करने के लिये अब एक नये लोंकाशाह की आवश्यकता है।

श्रीमान् लोंकाशाह ने जैन धर्म का शुद्ध रूप जाना और दूसरों को बताया। एक दिन ऐसा भी आया कि वह थोड़े से दायरे से निकल तमाम देश में फैला इसलिये नियमसर सदा के लिये 'मिशन' भी स्थापित हो गया।

परन्तु इस 'मिशन' के जन्म ने बहुतों में ईर्ष्याग्नि उत्पन्न करदी, बहुत से चैत्यवासी इस मिशन के स्थापित करने वाले लोंकाशाह और उनके अनुयायियों को गाली गलोज तथा निन्दा से सन्मानित करने लगे! इनका ऐसा करना कुछ अस्वाभाविक कर्म न था; क्योंकि देखते ही देखते मिशन हिन्दुस्थान के हर हिस्से में फैल गया और ४०० वर्ष

के भीतर ही भीतर चैत्यवासियों में से ५००००० पांच लाख से ज्यादा मनुष्यों को अपने में मिला लिया। ऐसी असाधारण जीत असाधारण ईर्षा उत्पन्न करे इस में आश्चर्य ही क्या है? अहमदाबाद में यह मिशन पहली पहल स्थापित हुआ वहां अभी तक लोंकाशाह के अनुयायी और मूर्तिपूजक जैनों में झप्पाझपी चलती रही है। इसका कारण ऊपर लिखी गई हकीकत से साफ समझ में आता है।

श्रीमान् लोंकाशाह का गच्छ सख्त से सख्त रुकावटों को सहनशीलता के साथ दूर करता हुआ हिन्द के प्रत्येक भाग में पहुंच गया, इस में उस प्रचड आत्मिक बलवाल महात्मा का 'विचार बल' ही कारण था। उन्होंने सत्य का पक्ष किया और सत्य पर चलने वाली उनकी जिन्दगी (Passive) नहीं थी बल्कि (Active) थी. वे दृढ़ संकल्प करते कि अमुक जगह अंधकार फैल रहा है वहां प्रकाश होना चाहिये, और कुछ संयोग ऐसा ही बनता कि किसी न किसी तरह वहां लोंकाशाह का उपदेश पहुंच ही जाता. इससे जान पडता है कि लोंकाशाह ने मुसाफरी भी की होगी, आम तौर पर व्याख्यान भी दिये होंगे; परन्तु इस तरह का कोई उल्लेख उन

के निगुण भक्तों ने कहीं नहीं किया। लोंकाशाह किस साल में जन्म, कब उनका देहान्त हुआ, उनका घर संसार कैसा चलता था, वे थे कैसी सूरत के, उनके पास कौन २ से शास्त्र थे, इत्यादि २ हम कुछ नहीं जानते। इस महापुरुष के वंशजों का इतिहास ज्यों ज्यों हम इस पुस्तक में पढ़ते जायगें वैसे २ मालूम होगा कि कितनों ही को बड़े धनवाले और कितनो ही को (पट्टावली के आधार से) खूब विद्या वाले लिखा है, परन्तु अफसोस की बात है कि इन में से एक भी ऐसा नहीं निकला कि इतिहास का प्रेमी होकर पैसे लगा कर या संशोधक बुद्धि के सहारे लोंकाशाह का इतिहास इकट्ठा कर लेता। स्वयं अहमदाबाद में इस महापुरुष का घर होने पर भी—धर्म का मूल शिरन होने पर भी अब तक यह मेरे जानने में नहीं आया कि वह किस पोल S था, और किसी को इसका विचार भी नहीं आया।

घर की तलाश कर वहां अवश्य होने वाले ग्रन्थों (Central Jain Library) तैयार करें। कैसी निर्गुण कौम! कैसा खेद जनक अन्धेर! एक साधु के पांच सात चेले हुए कि फौरन उन में का एक जिसे उलटी सीधी तुक

न्दी आती हो ' अमुक पूज्य का रास ' आदि लिखने को
ठ जाता है और उस में पूज्य के संसार पक्ष के काका मामा
टे आदि की नामावली देकर पढने वालों को पीडा देता है,
राग्य होने का मामूलीसा कारण लिखकर उसको भारी रूप
ा देता है। जन्म तिथि और मरण तिथि की घड़ी पल
खना भी कविराज नहीं चूकता, एक पांच शिष्य के गुरुके
ये इतनी अयोग्य संभाल रक्खी जावे और वर्तमान समय
सब साधुओं के पूज्य पुरुष का इतिहास तैयार करने को
भी पूज्य ने-एक भी साधु कविने-एक भी ' श्री पूज्य '
एक भी यतिने-यहां तक कि एक भी श्रावक ने जरा भी
स नहीं किया। इस महापुरुष को हम जैसे निर्गुणे लोगों
से चलने को ४०० वर्ष ही हुए है इसलिये इतिहास के
मिलना असम्भव नहीं है, यह काम सब से पहले " श्री
ों " का है, क्योंकि वे अपने को लोंकाशाह के वारिस
ाते हैं। खेद जनक तो यह बात है कि ऐसा होने पर
इन में से कोई भी जरा भी प्रकाश कर इस अन्धकार को
करने की तकलीफ उठाते नहीं।

श्रीमान् लोंकाशाह के उपदेशानुकूल कुछ वर्ष तक तो शुद्ध चारित्र पालनेवाले साधुजी हुए परन्तु पीछे से इसमें भी गोटाला हो गया। परिग्रह और आरंभ त्यागियों में दाखिल हुआ और वह यहां तक बढा कि 'साधु' और 'यति' ऐसे दो भेद होने का समय आगया। याने शुद्ध चारित्रका उपदेश करनेवाला जो लोंकाशाह के नाम से गच्छ चल रहा था उसमें शिथिलाचारी यति मौजूद रह गये (और यतियों का बंश चढने लग गया.) संवत् १६६५ में धर्मसिंह और संवत् १६९२ में लवजी नाम के दो समर्थ पुरुष हो गये हैं; इन्होंने साधुता स्वीकार करके साधु मार्ग के अनुयायी बनाये. इसी समय से 'चतुर्विध' संघकी जगह 'पंचविध' संघ हुआ–अर्थात् साधु–साध्वी श्रावक–श्राविका ऐसे संघ के चार अंगों में 'यति' या 'अर्ध साधु' का एक अँग और शामिल हुआ। ये यति पैसा, सवारी, छत्र, चँवर सब कुछ रखते थे, सरदारी मांगते थे और उपदेश भी–देते थे।

परिग्रहधारी मनुष्य उपदेश कर इसके विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना है; क्योंकि जैसे निर्वद्य उपदेश के करने वाले पंचमहाव्रतधारी मुनियोंकी आवश्यकता है वैसे ही

आचार विचार से बिल्कुल भ्रष्ट हुए मनुष्यों के लिये भी
र्म और व्यवहार का उपदेश करनेवाले खास वर्ग की जरू-
त है। संसारी-श्रावक इस काम को करने के लिये तैयार
। थे, ऐसे समय में जो यतियों ने इस काम को पूरा किया
ह प्रसन्न होने जैसी बात है। और इस काम को करने के
लये गुजरान होने जितना द्रव्य भी चाहिये ही। परन्तु
्व्य की इतनी ही हद्दपर न रह परिग्रह का लोभ खूब बढ
या। इन्द्रिय सुख और सरदारी का राज्य हो चला और
ीलोंकाशाहकी आज्ञा के उद्देश तक को भूल गया। आत्मिक
पदेश करनेवाले के बालों के पट्टियां पडी हुई और सुगंध
ाई हुई देखकर तथा उसे थोडी दूर चलने में भी मनुष्यों
े कन्ध पर पालकी में चढा हुआ देखकर श्रोताओं के
ृदय पर क्या प्रभाव होगा यह समझना सहज है। एक
कूल मास्टर, एक पत्र सम्पादक, एक वक्ता, एक प्रोफेसर
ैसा ही ठाठ से क्यों न रहे उसका उपदेश सुननेवाले को
उसकी ओर तिरस्कार नहीं होगा, परन्तु शरीर को क्षणभंगुर
कहनेवाले, द्रव्य की अन्याय से उत्पादकता सिद्ध करनेवाले,
आत्मा का आनंदमय स्वरूप बतानेवाले (और इस पर भी

संसार छोड़कर निकल हुए) मनुष्य को नाटक के पात्र कासा काम करता हुआ देख श्रोता वर्ग को अच्छा विचार होगा या क्या ? यह वे स्वयं अपने चित्त से विचार कर देखें। वहां पर मैं यह साफ तोर पर कहता हूं कि मैं यतियों का निन्दक नहीं हूं; प्रत्युत मैं इनका अस्तित्व रहना ठीक समझता हूं और वर्तमान काल के संयोगों में तो इनका रहना और भी जरूरी है। परन्तु मै जो कुछ कहना चाहता हूं वह केवल इतना ही है कि:—

(१) श्रीमान् लोंकाशाहका उद्देश परिग्रहधारी साधु बनाने का नहीं था इस बात को लक्ष में रखकर फिलहाल परिग्रह छोड़देने का न बने तो इसको कम करते २ लोभ छोड देनेका सद्गुण धारण करना चाहिए और 'श्रीपूज्य' तथा यतिओं के पास द्रव्य हो उसे अपना न समझकर—और यह जानकर कि इसके हम ट्रस्टी मात्र है—उससे यति वर्ग को उच्च श्रेणी का ज्ञान प्राप्त कराने को बडी २ पाठशालायें खोल देनी चाहिए, जगह २ लोंकाशाह पुस्तकालय स्थापित कराने चाहिए, और जगह २ घूमकर उपदेश करने में खर्च करना चाहिए। प्राचीन जैन साहित्य का उद्धार करना

चाहिए। ऐसे २ कामों में जो द्रव्य लगा तो जैन ज्यादा उनकी भेट करेंगे और उन पर फिदा होंगे।

(२) श्रीमान् लोंकाशाह के उपदेशानुकूल (और भगवान महावीर स्वामी की आज्ञानुसार) जो इस समय साधु व्रत पालन कर रहे हैं ऐसे श्वेताम्बर स्थानकवासी साधुओं से यतिओं को अकड़कर न चलना चाहिए। बल्कि, अपने से उन्हें उच्च स्थिति के मान, विनय पूर्वक अपना गच्छ चलाना चाहिए। सिर्फ लोंकाशाह का नाम रखने से ही हम लोंकागच्छी हो सकते है ऐसा जो कोई यति मानता हो तो यह उसका कहना भूल भरा है। पंचमहाव्रत नहीं पालनेवाले से पालनेवाला हजार दफे अच्छा है, फिर वह चाहे लोंका का अनुयायी हो, लवजी का अनुयायी हो, 'विजय' के अनुयायी हो या कोई और ही हो। ऐसी दृष्टि रखकर यतियों को साधुओं से निकट का सम्बन्ध बांधना चाहिए और अपने श्रावकोंको उपदेश करना चाहिए कि, जैन साधुमार्गी श्रावकों से टेढे होकर न चलें। 'श्री पूज्यों को माननेवाले श्रावक ही और इस भांति दो पक्षों का रहनाही खेदकारक है। श्रीपूज्य [illegible] इन दो वर्गों

का—आचार की भिन्नता से—होना कुछ बुरा नहीं है परन्तु एक मनुष्य श्रीपूज्य को ही माने, साधुको नहीं और एक साधुको ही माने, श्री पूज्यको नहीं; इस तरह की खींचातताण बुरे भविष्य की सूचना देनी है। मैं पहले बतला गया हूं कि श्री पूज्य के यतियों का कर्तव्य कुछ और ही है और पंचमहाव्रतधारी साधुओं का कर्तव्य कुछ और है और हमारे संघ को दोनों के अस्तित्वकी जरूरत है. फिर एक को मानना और एकको नहीं यह क्या ?

यतियों को ही मानकर साधुओं से बिल्कुल दूर रहे ऐसे मनुष्य का कभी कल्याण होई नहीं सकता, इसकी तो मैं 'गेरन्टी' देता हूं. क्योंकि शुद्ध दशा प्राप्त हुए विना मोक्ष हो ही नहीं सकता। जो ऐसा साधु व्रत धारण करना न बन सके तो भावना तो जरूर करनी चाहिए, जिससे किसी न किसी समय तो वह प्राप्त होवे। परन्तु जो परिग्रहधारी यतियों में ही सब कुछ है ऐसा मान साधु वर्ग की निन्दाही करते रहेंगे उनकी तो मुक्ति कभी नहीं होगी, नहीं होगी !! नहीं ही होगी !!!

इसी तरह जो साधु वर्ग की जरूरत मंजूर कर ही बैठे रहेगा और गृहस्थ के आचार विचार के उपदेशक, जागृति उत्पन्न करने वाले यतिओं की आवश्यकता स्वीकार न करेगा वह अपने संघकी सांसारिक अधोगति बहुत जल्दी देखेगा। मैं मानता हूं कि वर्तमान समय के यति अपने इस कर्तव्यको पालने के लिये तैयार नहीं हैं। इसमें सब दोष उन्हीं का नहीं है सामने वाले पक्ष का भी है—और ज्यादा है. क्यों वे उन्हें अपने से अलहदा रखते हैं, और क्यों कहीं कहीं पर इर्ष्या-तक करते हैं ? क्यों नहीं आजीजी कर—गुप्त रीति से समझा बुझा कर-न होसके तो अग्रेसरोंद्वारा उपालंभ देकर और अखीर में अखबारों द्वारा खुले तौर पर पुकार मचाकर देश-काल उनके पास जैसा कर्तव्य कराना चाहता है वैसा कर्तव्य कराने की फर्ज पडाई जाय ?

अस्तु, अब हम अपने ऐतिहासिक मुद्दे को पीछा हाथ में लेते हैं। मैं पहले लिख गया हूं कि लोंकाशाह के बाद कुछ समय तक तो शुद्ध साधु हुए और बाद साधु और यति ऐसे दो भेद पड गये। पहले तो मैं लोंकाशाह के पाट पर बैठे हुए श्री भाणजी ऋषिसे वर्तमान समय के 'श्री पूज्य' साहिब

श्रीमान् नृपचन्द्रजी (जामनगर) श्रीमान् खूबचंद्रजी (वडोदरा) और श्रीमान् विजयराजजी (जैतारण–अजमेर) तक की वंशावली संक्षेप में बतलाउंगा और उस के बाद लोंकाशाह के उपदेशका पुनरुद्धार करने वाले श्रीमान् धर्मसिंहजी तथा लवजी ऋषि से लेकर आज तक का इतिहास (मुझे मिले हुए साधनों के आधारपर) जणाउंगा । मैं इस बात को मंजूर करता हूं कि मुझे पूरा भरोसा नहीं है क्योंकि हमारे यहां इतिहास लिखने की प्रथा न होने से जुदी २ याददाश्त में जुदा जुदा हाल लिखा हैं. हां, मैंने इतना अवश्य ध्यान रक्खा है कि उनमें जो मुझे जियादा सही मालूम हुआ उसींको मैंने लिखा है बहुत सम्भव है कि फिर भी मेरे लेख में ऐतिहासिक भूलें हों; परन्तु वे जान बूझ कर की हुई न होने से क्षमा करने योग्य है।

(१) ऋषि श्री भाणजी, सिरोही जिले के रहने वाले, पोरवाड़ जाति, संवत् १५३१ में धन दौलत छोड ४५ पुरुषों के साथ अहमदाबाद में दिक्षा ली।

(२) श्री भीदाजी, सिरोही के रहने वाले, ओसवाल साथरिया गोत्री, बहुत द्रव्य छोड कर कुटुम्ब परिवार सहित ४५ मनुष्यों के साथ १५४० में दीक्षा ली।

(३) श्री 'यूनाजी, ओसवाल, खूब मायामत्ता छोड कर भीदाजी के साम्हने १५४६ में दीक्षा ली।

(४) श्री भीमाजी; मारवाड़ के पाली गांव के रहने वाले; ओसवाल लोढा गौत्री लाख रुपया छोड कर दीक्षा ली।

(५) गजमालजी, उत्तर में नानपुर गांव के रहने वाले ओसवाल, श्री झांझेर गांव में सुराणा गोत्री, ऋषि भीमजी के पास १५५० में दीक्षा ली।

(६) श्री सरवाजी, वीसा श्रीमाली अकबर के वज़ीर (!) थे, श्री जगमालजी के उपदेश से इन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। कहा जाता है कि पांच करोड की सम्पत्ति छोड कर दीक्षा लेने लगे उस समय अकबर ने कहाः—

सरवा ! ये संसार एक अजब चीज है। दुनियां के बीच रहना अजब चीज है !

परन्तु बादशाह को ऐसे ही जवाब देकर संवत १५५४ में उन्होंने दीक्षा ली।

(७) श्री रूप ऋषिजी, अणहिलपुर पाटन के रहने वाले, वेद गोत्री, जन्म संवत १५५४, दो लाख रुपये छोड

कर १५६६ अपने आप विना किसी गुरु के दीक्षा ली और १५६८ में पाटन में २०० घर श्रावकों के बना लोंकागच्छ में शांमिल हुए. १९ वर्ष तक दीक्षा पाल १५८५ में ५२ दिन का संथारा कर स्वर्ग वासी हुए।

(८) श्री जीवाजी ऋषि, सूरत के रहने वाले पिता का नाम तेजपाल शाह, माता का नाम कपूरां बाई, जन्म संवत् १५५१ महा बद १२. संवत् १५७८ में ३२ लाख महमुदी जितना द्रव्य छोड कर दीक्षा ली. १ लाख रुपया दीक्षा में खर्च किया गया। १५८५ में पूज्यदवी पाई. सूरत में ९०० घर उपदेश कर श्रावक बनाये. ३५ वर्ष तक संयम का पालन कर १६१३ के जेठ बद १० को संथारा कर स्वर्ग वासी हुए।

इन के समय में सिरोही राज्य की कचहरी में शैव और जैनों मे विवाद हो गया इस में जैन यति हारे और उन्हें राज्य छोड कर जाना पडा परन्तु इतने में ही अहमदावाद के मुकाम पर विराजते हुए इनने अपने शिष्य कुंवरजी को वहां भेजा और उन्होंने वाद कर जैन मत की जीत की।

इसी समय से फूटफाट चली. मेघजी नाम के एक स्थीवर को किसो कारण से ५०० ठाणा सहित गच्छबाहर कर दिया. इससे वे हीरविजय सूरिके पास गये और उनके गच्छ में मिल गये ।

इस समय लोंकागच्छ में ११०० ठाणा घूमते थे । परन्तु संप टूटने से तथा और २ कारणों से तीन गच्छ हो गये (१) गुजराती लोंकागच्छ (२) नागोरी लोंकागच्छ (३) उत्तरार्ध लोंकागच्छ । गुजराती लोंकागच्छ के महानुभाव श्री जीवाजी ऋषिके तीन मुख्य शिष्य थे (१) श्री कुंवरजी (२) वरसिंहजी (३) श्रीमलजी ।

(९) श्री कुंवरजी, पिता लहुवाजी, माता रूडीबाई, संवत् १६०२ के ज्येष्ठ सुद ५ के दिन ७ मनुष्यों के साथ जीवाजी ऋषि के पास अहमदाबाद में दीक्षा ली । ये शास्त्र में ऐसे कुशल थे कि,—सिरोही में शैवों का शास्त्रार्थमें हराकर जैन धर्म की ध्वजा फहराई थी. १६१२ में इन्हें गुरु ने पाट पर बिठाये । (इसी समय में ही श्री कुंवरजी के छोटे गुरु भाई वरसिंहजी अलग हो गये ! भावसारों ने इन्हें पूज्य

पदवी दी । इनके पक्षको 'गुजराती लोंका गच्छ का छोटा पक्ष' ऐसा नाम मिला)।

(१०) श्री श्रीमल्लजी, अहमदाबाद निवासी, पोरवाड, पिता का नाम थावर सेठ, माता कुंवरबाई. १६०६ के मार्गशिर सुद ५ के दिन ऋद्धिको छोड़ श्री जीवाजी ऋषी के पास दीक्षा ली । १६२९ के जेठ वुद ५ के दिन श्री कुंवरजी के पाटपर बैठे ।

ये बडे उग्र बिहारी थे । गांव में एक रात और शहर में पांच रात से ज्यादा न ठहरते थे ।

एक समय कड़ी (कलोल के पास एक) गांव है; वहां गये और बहुत से जीवों को उपदेश दिया । वे इनके उपदेश से जैन हो गये और गले की कंठीयां खोल कुए में डाल दी । इससे अभी तक वहां एक कुआ कंठिया कुआ कहाता है।

मच्छुकांठाकी तरफ विहार कर वे मोरबी गये । वहां श्रीपाल सेठ आदि को ले ४००० घरको उपदेश कर श्रावक बनाये ।

(११) श्री रत्नसिंहजी, हालार प्रांन्त के नयेनगर के रईस, वीसाश्रीमाली सोलाणी, सुराशाह पिता केशवाल की हुई अपनी पत्नी के घर जा उसे उपदेश दे आपने दिक्षा ली, संवत् १६४८ में वह कुमारी जो ११ वर्ष की थी उसका नाम शीवबाई था। शास्त्रों का अच्छा अभ्यास करने की वजह से १६५४ में गुरु श्रीमल्लजी ने इन्हें पाट पर विठाया, इनके शिष्य शिवजी आदि हुए।

(१२) श्री केशवजी, मारवाड़ के धुंनाड़ा गांव के रहने वाले, ओसवाल, बिजयराज पिता, जेतबाई माता, पूज्य श्री रत्नसिंहजी के पास ७ मनुष्यों के साथ दिक्षा ली। १६८६ में पाटपर बैठे। फिर थोड़े ही महीनों में संथारा कर जेठ सुद १३ के दिन काल किया।

(१३) श्री शिवजी, हालार के नवानगर के रईस, संघवी अमरशी पिता, तेजबाई माता.

इनकी दिक्षा का प्रसंग कुछ विचित्र था. ऐसा कहा जाता है कि श्री रत्नसिंहजी नयेनगर में (जामनगर) पधारे उस समय तेजबाई वन्दना करने को आई, उस

समय उस भद्र बाई को पुत्र रहित जानकर उन्होंने सहज में कह दिया कि: "देवाणुपिये ! धर्म श्रद्धा से सन्तति भी हो, धर्म में दृढ़ श्रद्धा रक्खो." इस बात के एक असैं बाद श्री रत्नसिंहजी फिर उसी नगर में आये और तेजबाई वन्दना करने आई. इस समय इसके ५ पुत्र हो चुके थे। बाई के हृदय में ऐसी श्रद्धा हुई कि यह महाराज के आशीर्वाद का ही प्रभाव है।

एक शिवजी नाम का पुत्र महाराज की गोद में जा बैठा हुआ देखकर तेजबाई ने कहा कि महाराज ! यह आपही का प्रताप है। यह आपके पास रहना चहाता है इसे भले ही आप शिष्य करो, उसका बहुत कुछ आग्रह देखकर महाराज ने उसे पढाना शुरू किया और उसके शास्त्र में पारंगामी होने पर संवत् १६७० में दीक्षा दी। इनका जन्म १६३९ में हुआ और ये १६८८ में पाट पर बैठे।

इन्होंने पाटन में चौमासा किया। कितने ही चैत्यवासियों से उनकी कीर्ति सहन न हुई। उन्होंने उनके विरुद्ध दिल्ली के बादशाह के कान भरे। बादशाह ने उन्हें दिल्ली

बुलवाया, यद्यपि चातुर्मास का समय था परन्तु शास्त्रों में लिखा है कि दुष्ट के जोग से, दुष्काल के पड़ने से, हिंसा के कारण से, राज्य के भय से ऐसे ही कठिन संकटमय कारणों से चौमासे में भी विहार हो सकता है इसी विचार से शीवजी दिल्ली पहुंचे। कितने ही तत्कालिक प्रश्नोत्तर होने के बाद बादशाह बहुत खुश हुआ और उनको मोहर छाप का पट्टा दिया और पालकी दी (संवत् १६८८ के आसोज सुद १० विजयदशमी के दिन)

इस तरह श्री शिवजी महाराज ने लोंकागच्छ की कीर्ति बढाई यह सही है परन्तु यह पट्टा और पालकी उपाधिरूप हो पड़े ! यह सोने की कटारी सिर्फ बांधने की ही न रही, तकलीफ पहुंचानेवाली हो गई । आज से यति लोग चँवर छत्र पालकी वगैरा रख साहिबी करने लगे जिससे त्याग में बडा भारी नुकसान पहुंचा ।

श्री शिवजी अब अमदावाद आये । इस समय अमदावाद के झवेरीवाडे में नवलख नामक उपासरे में आनेवाले श्रावकों के ७००० घर थे और उपासरे १९ थे ।

लालजी ऋषि के पास काव्य न्याय सिद्धान्त आदि पढ़कर शिवजी पाटधर हुए इसके बाद इनके १६ शिष्य हुए. इनमें से जगजीवनजी आनंदजी आदि तो उच्च कुल में से त्यागी हुए थे।

(श्री शिवजी के समय में सं. १६८५ में धर्म सिंहजी लोंकागच्छ से जुदे हुए और उन्होंने नया गच्छ चलाया.)

(१४) श्री संघराजजी का जन्म १७०५ के असाढ़ सुद १३ के दिन सिद्धपुर में हुआ. जाति पोरवाड़, पिता और बहन के साथ १७१८ में शिवजी ऋषि के पास दीक्षा ली।

श्री जगजीवनजी के पास व्याकरण, काव्य, अलंकार न्याय आदि का अभ्यास किया था। एक पटावली में मैंने पढ़ा है कि इन्होंने बहुत से ग्रन्थ टीका सहित और अंग उपांग मूल छेद आदि सिद्धान्तों का अभ्यास किया था। १७२५ में इन्हें आचार्य पद दिया गया परन्तु इससे खंभात में विराजमान आनन्दजी ऋषिने आक्षेप किया कि हमारे पूछे बिना इन्हें आचार्य पदवी क्यों दी गई ? उन्हें

जवाब मिला कि "इस मामले में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।" इससे आनन्दजी चिड़ गये और उन्होंने खंभात में अपने शिष्य त्रिलोक ऋषिजी को पाटपर बिठाकर अपना गच्छ स्थापित किया। इसमें १८ संघाडे के यति मिले उससे अठारिया, कहलाने लगे।

श्री संघराजजी ने २९ वर्ष आचार्य पदवी भोगी, १७५५ के फाल्गुन सुद ११ के दिन ११ दिन का संथारा कर ५० वर्ष की उम्र में आगरा शहर में स्वर्ग वासी हुए। इस समय की बडी धाम धूम से जले हुए ईर्षा वाले लोगों ने बादशाह से कहा कि " संघराजजी के माथे में मणि है!" बादशाह ने स्मशान में मनुष्य भेजे। किं वदन्ती है कि महाराज के शवका अग्निदाह होते २ मस्तक फूट कर मणि यमुना में गिरती हुई सबने देखी. इसीसे ' संघराजजी मणीधर ' कहे जाने लगे। इस दन्तकथा में कितनी बात सही है यह मैं नहीं कहसकता।

(१५) श्री सुखमलजी, मारवाड़ में जेसलमेर के पास आसणी कोट के रहने वाले, वीसा ओसवाल, सवचालेचा

गोत्र; पिता देवीदास, माता रंभा वाई, जन्म सम्वत १७२७ श्री संघराजजी के पास १७३९ में दिक्षा ली। १२ वर्ष तप किया. सूत्र सिद्धान्त के अच्छे ज्ञानकार थे. १७५६ में अहमदावाद में चतुर्विध संघ ने पाट पर विठाया. अखीरी चौमासा धोराजी में किया। वहां सम्वत् १७६३ के आसोज वद ११ के दिन काल किया।

(१६) श्री भागचन्द्रजी. श्री सुखमलजी के भानेज, कच्छ-भुज के रईस, १७६० के मगसिर सुद १ के दिन अपनी बंधुपत्नी तेजबाई सहित दीक्षा ली. वाद भुज में पूज्य पदवी मिली, १८०५ में काल किया।

(१७) श्री वालचन्दजी, मारवाड़ देश में फलोधी के रईस वीसा ओसवाल, छाजेर गोत्री, पिता उगराशा माता सुजान वाई, दो भाईयों के साथ इन्होंने दीक्षा ली। १८०५ में सांचोर में पूज्यपदवी पाई. १८१९ में काल किया।

(१८) श्री माणिकचन्द्रजी, मारवाड़ में पाली के पास दयापुर गांव के वीसा ओसवाल, कटारीया गोत्री, पिता राम-

न्द्रजी के पास दिक्षा ली। नये नगर में १८२९ में पूज्य पदवी मिली. १८५४ के फागुन सुद ५ मंगलवार को सवा पहर दिन चढे काल किया।

(१९) श्री मूलचन्दजी, मारवाड में जालोर प्रान्त के मोरशी गांव के वीसा ओसवाल, सिंहल गोत्री, पिता दीपचंद माता अजावाई, श्रीमाणिकचन्दजी के पास १८४९ में दीक्षा ली। जेठ सुद १० के दिन सम्वत् १८५४ के फागुन बद २ के दिन बडे ठाठ के साथ नयानगर में पूज्य पदवी दी गई. इन्होंने जेसलमेर में १८७६ में काल किया।

(२०) श्री जगतचन्दजी महाराज।

(२१) श्री रत्नचन्दजी महाराज।

(२२) श्री नृपचंदजी महाराज (वर्तमान है.)

(इस तरह श्री 'कुंवरजी पक्ष' की पट्टावली खतम् हुई. अब हम "गुजराती लोंकागच्छ की छोटी पक्ष" की पट्टावली देते हैं.)

(९) श्री वरसिंजी, यह पूज्य श्री जीवाजी के शिष्य थे। संवत् १६१३ के जेठ सुद १० के दिन वडोदे के भावसारों ने पूज्य पदवी दी।

(१०) श्री छोटे वरसिंहजी, १६२७ में गद्दी पर बैठे. १६६२ में दिल्ली में १० दिनका संथारा कर स्वर्गवासी हुए।

(११) श्री यशवंतसिंहजी

(१२) श्री रूपसिंहजी।

(१३) श्री दामोदरजी।

(१४) श्री कर्मसिंहजी।

(१५) श्री केशवजी (इन के नाम से गच्छ प्रसिध्ध है)

(१६) श्री तेजसिंहजी।

(१७) श्री कहानजी

(१८) श्री तुलसीदासजी।

(१९) श्री जगरूपजी।

(२०) श्री जगजीवनजी।

(२१) श्री मेघराजजी।

(२२) श्री सोमचंदजी।

(२३) श्री हर्षचंदजी ।

(२४) श्री जंयचदजी ।

(२५) श्री कल्याणचन्द्रजी (२६) श्री खूबचंद-जी (विद्यमान हैं) गुजराती लोंकागच्छ में से (१) कुंवरजी पक्ष के श्री पूज्य श्री नृपचंदजी की गद्दी जामनगर में (२) केशवजी पक्ष के श्री पूज्य श्री खूबचंदजी की गद्दी वड़ोदे में और (३) धनराजजी पक्ष के श्री विजयराज जी की गद्दी जैतारण (अजमेर) में है ।

प्रकरण ४ ॥

लोंकागच्छ की और शाखाएं ।

चौवीसवें तीर्थंकर श्री महावीर प्रभु के वचन--शुद्ध रूप से फैलाने का काम महात्मा लोंकाशाह ने माथे ले लिया और उनके मिशन (गच्छ) में एक के बाद एक करके अनेक मिशनरी मिल गये । यह हम पहिले बतला गये हैं । परन्तु जैसे स्वयं महावीर के वंशधरियों को हम कालक्रम से परिग्रहधारी और शिथिलाचारी हुए देख गये हैं वैसे ही इनके अर्थात् महावीर के पैगम्बर लोंकाशाह के वंशधर भी कालक्रम से परिग्रहधारी और शिथिला चारी होगये । त्याग-ज्ञानाभ्यास--परोपकार ये सब भुला गया; मान, लोभ, चालबाजी. और विकारों का प्रबल वेग बढ़ गया । लोंकाशाह का नाम मात्र गच्छ के साथ लगा रहा; परन्तु उनका उद्देश रफू चक्कर हुआ; यहां तक कि यह गच्छ ही कोई और है ऐसा होगया. बिचले जमाने में जो इतना था कि इस मिशन के मिशनरी परिग्रहधारी होने पर भी बड़े २ अमलदारों और राजाओं से मिलकर उन्हें खुश करते और जैन धर्म का चम-

त्कार बतलाते परन्तु अब तो इतना भी गुण बाकी न रहा। जैसे २ काल बीतता गया वैसे वैसे इनकी शक्ति औरों को छोड़ अपने भक्तों पर ही अजमाई जाने लगी। उन्होंने भक्तों पर खास तरह का टेक्ष (Tax) लगाया और इसकी उगाई ज़ोरोज़ुल्म से भी होने लगी।

पहले 'यति' शब्द 'साधु' शब्द का पर्यायवाची था। यति शब्द यत् और यम दोनों धातु से बनता है जिन का अर्थ (१) कोशिश करना (२) वश में रखना है। अर्थात् जो मोक्ष के लिये कोशिश करता है अथवा इन्द्रियों को वश में रखता है उसी को यति कहते हैं। और इसीसे यति, साधु का द्योतक दूसरा शब्द था। परन्तु जैसे २ यति शिथिलाचारी होगये वैसे २ इसके अर्थ में भी भेद पड़ गया। अब यति शब्द का अर्थ पंच महाव्रतधारी साधु नहीं बल्कि परिग्रहधारी उपदेशक होगया। इससे साधु और यति शब्द का उपयोग भिन्न २ अर्थ में ही होता है। लोंकाशाह के वंशज कहलाते हुए उपदेशकों को यति कहा जाता है और यतिओं की शिथिलता देख श्री महावीर प्रभु और लोंकाशाह

की शुद्ध आज्ञा के अनुकूल चलने के लिये घर छोड़ निकलने वाले उपदेशक साधु कहे जाते हैं। इस तरह यति और साधु के भेद पड़े ३२० वर्ष भी नहीं हुए. ये भेद कैसे हुआ इस का हाल हम आगे बतावेंगे।

प्रकृति का नियम है कि हरएक पंथ—प्रत्येक समुदाय में जब बहुत अन्धकार छा जाता है तब कोई न कोई 'सुधारक' प्रकट हो जाता है। और वह एक जुदी ही संस्था कायम करता है। थोड़े बहुत समय तक तो इसके अनुयायी थोड़े होने से काम ठीक चलता है परन्तु मनुष्य बढ़ने के साथ ही फिर अन्धेर छाता है। फिर इस में भी कोई न कोई "सुधारक" निकल खड़ा होता है। इसी तरह आगे भी होता रहता है. इस में हर्ष--शोक करने की कोई बात नहीं है। कोई समुदाय ऐसा नहीं है जो बिल्कुल अच्छा ही हो और न कोई समुदाय ऐसा ही है जो बिल्कुल खराब ही हो। सब में सुधार होने की जगह है। सुधार का काम कभी बन्द नहीं होगा।

चैत्यवासियों की गड़बड़ दूर करने के लिये लोंकाशाह उत्पन्न हुआ ऐसे ही उनके वंशजों में छाये हुए अन्धेर को

दूर करने वाला कोई दूसरा लोंकाशाह होना ही चाहिए। और कुदरत ने उसे उत्पन्न किया ही। शिवजी के समय में (संवत् १६८५) धर्मसिंहजी तथा वज्रांगजी के समय में (१६९२) लवजी नाम के दो सुधारक जाहिर हुए। इन्होंने अपना काम शुद्ध परूपणा करना जोर शोर से चलाया। परन्तु इन दोनों वीरों का आत्मिक बल लोंकाशाह जितना न था इससे वे अपना प्रकाश भी इतना न फैला सके। तथापि उन्होंने अन्धकार दूर किया, यह भी कुछ कम होने जैसा नहीं है।

इन दोनों वीरों में से पहले धर्मसिंहजी के हाल से पाठक-गण को अच्छी तरह वाकिफ कर फिर श्रीमान् लवजी का वृत्तान्त बतलायेंगे।

श्रीमान् धर्मसिंहजी का वृत्तान्त।

काठियावाड़ के हालार प्रान्त में जामनगर शहर है जिसे लोग "नगर" और "नयानगर" भी कहते हैं। यहां दशा श्रीमाली वनिया जिनदास रहते थे। इनकी स्त्री का नाम "शिवा" था. इस शिवा की कूख से भाग्यशाली

धर्मसिंह का जन्म हुआ। जिस समय धर्मसिंह की अवस्था १५ वर्ष की थी उस समय वहां के लोंकागच्छीय उपासरे में लोंका गच्छाधिपति श्री पूज्य श्री रत्नसिंहजी के शिष्य श्री देवजी महाराज पधारे। इनके व्याख्यान सुनने वालों में धर्मसिंह भी था। उपदेश का प्रभाव धर्मसिंह पर ऐसा पड़ा कि उसे बड़े जोर से वैराग्य उत्पन्न हुआ। माता पिता ने कुछ समय तक तो परवानगी न दी परन्तु दीक्षा लेने को आखिरकार आज्ञा दे दी, इतना ही नहीं बल्कि बेटे के साथ बाप ने भी दीक्षा ले ली. यति वर्ग की दीक्षा ले गुरु भक्ति और शास्त्राध्ययन में लगे हुए इस तीव्र वैरागी धर्मसिंह को ३२ सूत्र व्याकरण तर्कशास्त्र आदि का बहुत शीघ्र अभ्यास हो गया। ज्ञान की तलाश में लगे हुए विनय नम्र पुरुष पर सरस्वती बहुत प्रसन्न होती है। धर्मसिंहजी के बारे में प्रसिद्ध है कि दोनों हाथों से ही नहीं दोनों पैरों से भी कलम पकड़ कर लिख सकते थे। अष्टावधान करते थे। ऐसी शक्ति बहुत कम मनुष्यों में होती है और ऐसे मनुष्य तो और भी कम होते हैं जो ऐसी शक्ति को पचा कर विनयी बने रहें।

ज्यों ज्यों सूत्र ज्ञान बढ़ा त्यों त्यों उन्हें विचार होने लगा कि सूत्र में कहने के अनुकूल तो हमारा वर्ताव नहीं है। इस वास्ते जो हम ने टुकड़े मांग खाने को ही भेख नहीं लिया हो तो शुद्ध मुनिव्रत पालन करना चाहिए. यह विचार उन्होंने गुरू श्री शिवजी के साम्हने जाहिर करते हुए बड़ी नम्रता से कहाः—

"कृपालु देव ! श्री भगवान ने २१००० वर्ष तक मुनि मार्ग वरतेगा ऐसा श्री भगवती सूत्र के वीसवें शतक में कहा है। तथापि पंचमकाल का बहाना कर मुनिमार्ग के आचार से जो हम लोग शिथिल हो गये हैं सो किसी तरह से मुनासिब नहीं है; क्योंकि मनुष्य भव अमूल्य चिन्तामणि है. इसलिये कायरता छोड़ शूरवीरता ग्रहण कीजिए। आप जैसे समर्थ विद्वान् महापुरुष, दूसरे पामर प्राणियों की तरह कम हिम्मत हो जाय तो फिर अन्य प्राणियों का क्या दोष ? इस-लिये आलस्य को छोड़ सिंह की भांति पराक्रम दिखलाओ। मुनि मार्ग पर चलो और औरों को चलाओ. ऐसा करने से जिन शासन की शोभा और आत्मा का कल्याण है। सिंह कायर नहीं होता, सूर्य में अन्धकार नहीं रहता, दाता को

सूमपन अच्छा नहीं लगता, तेजी को चाबुक की जरूरत नहीं है; वैसे ही आपको कायरता न होनी चाहिये। जैसे अग्नि में किसी समय शीतलता नहीं होती वैसे ही ज्ञानी पुरुष के मन में भी कभी राग नहीं होता। आप मुनिमार्ग का आचरण करने को तैयार हो और मैं भी आपके पीछे २ दीक्षा पालन करने को तैयार हूं. संसार छोड़े बाद परिग्रह ग्रहण करना किसी तरह योग्य नहीं है।"

धर्मसिंह के ऐसे वचन सुन गुरू सोचने लगे कि धर्मसिंह का यह कहना एक एक अक्षर २ सत्य है परन्तु मुझसे निकला नहीं जा सकता और जो ऐसा पण्डित और विनयी यह शिष्य ही गच्छ छोड़ जायगा तो गच्छ की बड़ी हानि होगी, इस वास्ते उसे रखना जरूरी है. यों सोच कर गुरू ने, शिष्य धर्मसिंह से कहाः—" अभी हाल में तुरंत इस पूज्य पदवी का त्याग करने को तैयार नहीं हूं; तुम धैर्य रक्खो और ज्ञान ध्यान में उन्नति करो फिर अपने दोनों गच्छ की ठीक ठाक व्यवस्था कर सब उपाधि छोड़ पुनः संयम धारण करेंगे. अभी तो जल्दी करना छोड़ दो."

गुरु के वचन सुन धर्मसिंह ने विचार किया कि जो गुरू संयम धारण करें तो और भी अच्छा, क्योंकि ये मेरे ज्ञान के उपकारी हैं। इसलिये इनको साथ लेकर मुझे निकलना चाहिये। ऐसा विचार धर्मसिंह ने सब्र पकड़ा. गुरु शिष्य का अत्यन्त स्नेह सम्बन्ध होने से विनयशाली शिष्य ने इस समय गुरु का कहना मान लिया।

परन्तु गुरुकी बुद्धि निर्मल हो तब तक धर्मसिंह बिलकुल चुपचाप बैठने वाले न थे उन्होंने सोचा। कि त्यागियों को मिलती हुई फुरसतका उपयोग ज्ञानवृद्धि के साधनों में होना ठीक है. । मुखका उपदेश थोड़ेही मनुष्य सुन सकते हैं और वह एक ही जगह; परन्तु लिखा हुआ उपदेश सर्वत्र और सदा काम आ सकता है। ऐसा सोचने के बाद उन्होंने गणधरके गूंथे हुए सिद्धांत ग्रन्थोंपर टब्बा (टिप्पण) करनेका काम शुरू किया, जिससे सूत्र समझनेका काम सहज हो जाय।

इन्होंने २७ सूत्रके टब्बा पूरे २ लिख दिये। ये ऐसी खूबीसे लिखे गये हैं कि इन्हींके आधारपर आज भी साधु-

जन शास्त्र सीखते हैं और व्याख्यान करते हैं। पंजाब में भी (जहां गुजराती कोई भी नहीं समझता) इन्हीं टब्बोंसे साधु शास्त्र वांचते हैं। सारे भारत में टब्बाका उपयोग होता है। पंजाबी, मारवाड़ी और महाराष्ट्रीय जैनोंपर भी गुजराती भाषाका ज्ञान हासिल करने की फर्ज डालने वाला जो कोई मनुष्य हुआ तो धर्मसिंहजी ही हुए।

दिन पर दिन बीतने लगे परन्तु धर्मसिंहके गुरु अपनी साहबीसे नहीं तृप्त हुए और शुद्ध चारित्र पालन करनेको तैयार नहीं हुए। आखिर धर्मसिंहजी के धैर्य का भी अन्त आगया। उन्होंने गुरु से कहा " आपकी अभिलाषा के अनुकूल मैंने अब तक सब्र की, अब अपन दोनों को और जो ऐसा न होतो अकेले मुझे शुद्ध धर्म को पालने और प्रतिपादन करने को मैदान में आना ही चाहिए, ऐसा मैंने निश्चय किया है। क्योंकि कहा है " धर्मस्यत्वारिता गतिः"

"दैवों के प्रिय!" गुरु ने कहा "तुम्हीं देख रहे हो मुझ से वैभव छोड़ा नहीं जासकता; परन्तु तुम्हें अपना कल्याण करने से रोकना तुम्हारे शुभेच्छक को योग्य नहीं

है । मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं कि तुम्हीं कल्याण करो. तुम्हारे कल्याण के लिये मैं सच्चे अन्तःकरण से आशीर्वाद देता हूं. परन्तु जब तुम रणक्षेत्र में उतरने को तैयार होगये हो ऐसे समय में डराने को नहीं बल्कि संकटों से बचने को धैर्यकवच तुम धारण करो इसके लिये सलाह देने की जरूरत समझता हूं कि यति और पासत्थों से भरपूर वातावरण में रह कर उनसे बिलकुल प्रथक आचार पालन करना जितना कठिन है उससे बहुत ज्यादा कठिन इनके द्वारा भड़काये हुए लोगों द्वारा होते हुए निन्दा तिरस्कार अपमान ताड़ना रूप परिसहका सहन करना है । इन सबको तुम आत्मिक बल से सहन करना.. और अपने परम पिता महावीर और लोंको शाह का नाम चारों ओर गजा देना."

धर्मसिंह ने विवेक पूर्वक माथा नमाया और आंखों में गुरु भक्ति के आंसू आगये । " और कुछ हुक्म? कृपानाथ!" गदगद कंठ से विनयनम्र शिष्य ने कहा ।

"हां, मेरे विवेकी शिष्य ! एक हुक्म है: जिस काम में तुम पड़ना चाहते हो वह ऐसा तो कठिन और नया है कि

और आज तक इस जगह पर रहे हुए सैंकडों मनुष्यों से यह पुरुष कुछ और तरह का ही जान पड़ा। मैं नहीं कह सकता कि शास्त्र के पवित्र शब्दों के उच्चारण से वातावरण में होते हुए असर से, या 'मेरी आत्मा सर्व शक्तिमान है' इस दृढ भावना के बल से, या यक्ष को कुतूहल हुआ इससे, या कोई और कारण से, कुछ भी हो यक्ष अपने क्रोधी स्वभाव को भूल गया और भक्ति पूर्वक धर्मसिंहजी की वयावच्च-सेवा सुश्रषा करने लगा। इतना ही नहीं बल्कि उनके उपदेश से उसने उस समय से किसी मनुष्य को न सताने का संकल्प कर लिया. और यक्ष चला गया। आधी रात तक तो धर्मसिंह सज्झाय--ध्यान में लवलीन रहे. फिर थोड़ासा आराम ले--अल्प निद्रा निकाल पिछली रात से वापस उसी पवित्र काम में लग गये।

प्रभात हुई, सूर्य की सुनहरी किरणों के प्रकाश से वहां का अन्धकार और भयंकार दूर होगया। एक एक कर मनुष्य आने लगे, जिन्होंने गत सायंकाल को यहां यति को छोड़ा था, वे उसका शव देखने को आशा से कुछ जल्दी आये थे; परन्तु जब उन्होंने शव की जगह ध्यान में लीन

होने वाले महात्मा को सहीसलामत देखा तो उनके हृदय में उसकी ओर पूज्यभाव उत्पन्न हुआ। पर्यंक आसन पर बैठे हुए यति ने उन्हें सब हाल कहा. इससे मुसलमान भी यतियों को चमत्कारी समझ कर उनको विनय करने लगे।

चार घड़ी दिन चढ़े धर्मसिंह गुरु के पास (कालुपुर के उपाश्रयमें) आये और उन्होंने वन्दन पूर्वक सब हाल गुरु को कह सुनाया।

शिष्य का ऐसा शौर्यभरा आचरण देख गुरु के मन में आया कि यह शिष्य बड़ा पराक्रमी और बुद्धिशाली है। परिसह सहने में दृढ़ है. यह अच्छी तरह संयम पालन करेगा. जैन धर्म को प्रकाशित करेगा। इससे जैन शासन का उद्योत होगा. यों सोच फिर संयम ग्रहण कर विचरने की गुरु ने धर्मसिंह को आज्ञा दी और कहा: "तुम्हारा संयम निभेगा." गुरु की इस आज्ञा से परम संतोष पा और कितने ही दिक्षा लेने का विचार रखने वाले यतियों को साथ ले धर्मसिंह ने अपने गुरु की भक्ति की, खमतखामणा कर वहां से चल कर दरियापीर दरवाजे के बाहर ईशान कोन के

उद्यान में जाकर संवत् १६८५ में * संयम धारण किया।

---

* इस लेखका यह भाग लिख रहा था उसी समय पोस्ट-मैन ने कुछ कागज पत्र लाकर मुझे दिये; उन में का पहला पत्र देखा उसमें कच्छी मुनि श्री नागेंद्रचन्द्रजी की लिख भेजी हुई एक प्राचीन कविताकी नकल निकली. उसकी ६० कड़ियों में से कुछ कड़ियां नीचे प्रकट करता हूं:—

एह अक्सर पोशालिया, गढ़ जालोर झुझार ।
ताड़पत्र जीरण थयां, कुलगुरु करे विचार । ४०
लोंको महतो तिहां बसे, अक्षर सुन्दर तास;
आगम लखवा सोंपियां, लखे शुद्ध सुविलास । ४१
उत्पात की बुद्धिनों धणी, चतुर महामतिवंत ।
एकटेक जिन धर्मनी, गुणियल गिरवो संत । ४६

यह कड़ी सूचना देती है कि धर्म गुरु की जगह 'कुलगुरु' हो पड़े यतिओं ने श्रीमान् लोंकाशाह को शास्त्र लिखने को दिये परन्तु जालोर में (अहमदाबाद में नहीं). लोंकाशाह के गुण यों वर्णन किये हैं कि वह शुद्ध और सुन्दर लिखने वाला था। उत्पातिया बुद्धि अच्छी रखता था. जिन धर्म का दृढ़ श्रद्धालु था. प्रौढ था. संसारी होने पर भी उसके नाम के साथ सन्त

वहां से विहार कर अहमदाबाद शहर के दरियापीर दरवाजे में दरवान की कोटरी में उसकी इजाजत लेकर उतरे। और उसके चबूतरे पर बैठ कर धर्म कथा करने लगे. दरवाजे में होकर आने जाने वाले मनुष्य उनका उपदेश सुनने लगे।

पद लगाया है सो उसकी लायकी की सूचना देता है। आगे चल कर इसी कविता में लिखा है:-

लोंके जे आगम लख्या, धुर मेल्या गुजरात।
बीजा शहर नागोरसां, वांचे जन विख्यात।

लोंकाशाह के अनुयायी शिवजी नामक यति से धर्मसिंह अलग हुए इस बारे में ६० वीं कड़ी में कहा है:--

संवत सोल पचासिए, अमदाबाद मुझार।
शिवजी गुरु को छोड़ कर, धर्मसिंह हुआ गच्छबहार।

धर्मसिंह लोंकागच्छ से बाहर हुए--अलग हुए और यतिवर्ग की जगह शुद्ध साधुवर्ग स्थापित किया, इस बनाव के साथ १६८५ का साल लगाया गया है।

ऐसा होने पर भी मैंने कई एक के मुख से सखेद सुना है कि दरियापुरी समुदाय के कितने ही मुनियों ने धर्मसिंह की बहुत ही निन्दा की है। इस सुनी हुई बात को थोड़ी बहुत

उन में से कितनों हो ने श्रावक धर्म अङ्गीकार किये. इस तरह धर्मसिंह मुनि शेषकाल दर्वाजे में रहे इससे या दरीया-खान पीर वाले चमत्कार का स्मरण रखने के लिये इनके समुदाय का नाम " दरायापरी समुदाय " हुआ. दर्वाजे पर

मानने का कोई कारण मेरे पास है वो छकोटी के एक श्रावक की छपाई हुई पट्टावली है कि जिसमें लवजी ऋषि के संबन्ध में तो खूब लंबा चौडा लिखा हैं और धर्मसिंहजीके विषयमें सिर्फ १० लाइन अखीर में लिखी हैं; और इनमें भी ईर्ष्या टपक रही है। जैसें श्वेताम्बरों ने दिगम्बर मत की स्थापना के विषय में कल्पना की कि अमुक साधु की चादर गुरु ने छीन ली उसको वैर निकालने को वह नग्न रहकर नया पंथ कायम कर गुजरा; वैसें ही धर्मसिंह की कीर्ति न सहन करने वाले अपने ही मत के साधु के लिये लिखते हैं कि "उन्हें श्रीपूज्य पदवी मिलने का हक था वह न मिली और उपाध्याय पदवी भी दूसरे शिष्य को मिलगई, इससे वह लोंकागच्छ को मुलाकर संवत् १७०९ में फिर दीक्षा ग्रहण कर बैठे." दरियापुरी समुदाय के लिये ऐसा हास्यजनक कारण ढूंढ निकाला ! २७ सूत्रों पर टब्बा करनेवाले और कितने ही अमूल्य पुस्तकों के लिखनेवाले पूर्ण तथा हक्धर्मी धर्मसिंह पर न मानने योग्य ऐसा यह आरोप हमें

बैठ कर उपदेश करने से:— Field preacher होने से इनका उपदेश सुनने का मौका बहुत मनुष्यों को मिलता था. धर्म संस्थापन करने वालों के लिये अच्छा से अच्छा मार्ग आम तौर पर उपदेश करना ही है। शहर का ईशान कोण में साबरमती नदी के किनारे के बगीचे में बादशाह ठहरे हुए थे। उनसे मिलने को जाते हुए उनके कामदार दलपतरामजी ने धर्मसिंहजी का आम तौर पर होता हुआ उपदेश सुन जैन

मिले हुए साधनों पर से हम कह सकते हैं कि श्रीमान धर्मसिंहजी १६८५ में साधु तरीके—धर्मसुधारक (Martyr) तरीके बाहर हुए हैं—प्रकट हुए हैं; तब लवजी (धर्मसिंहजी की समुदायके निन्दकों के कथनानुकूल ही) १६९२ में धर्मसुधारक तरीके प्रकट हुए हैं। दोनों समकालीन थे, परन्तु पहले काम करनेवाले धर्मसिंहजी थे इतना ही नहीं बल्कि धर्मसिंहजीका उपकार सम्पूर्ण जैनवर्ग पर सदा के लिये है; क्योंकि उन्होंने ढब्बा किये हैं. मैं दोनों धर्मवीरों का मान करता हूं. दोनोंकी मानसिक पूजा करने में मान समझता हूं; परन्तु इनमें से एक के हाल के अनुयायी अपनी बड़ाई के लिये दूसरे की निन्दा करता है इसे मैं सहन नहीं कर सकता. यह पागलपन है; या बुरा झुनून है, यह महा पाप है।

धर्म अङ्गीकार कर लिया और आग्रह कर धर्मसिंहजी को अपने एक विशेष मकान में उतारा दिया। इस में मुनिका उपदेश सुनने को वहुत मनुष्य इकट्ठे हुआ करते थे।

एक समय मुनि धर्मसिंहजी इसी मकानमें वैठे २ उत्तराध्ययन सूत्रका पाठ पढा रहे थे, और साथ ही साथ अर्थ भी समझा रहे थे। सो सुन कर एक ब्राह्मण भीतर आया और नमस्कार कर पूछने लगा कि "आप शिष्य को जैसा मार्ग विनय का वता रहे हैं, ऐसा कोई विनय सम्पन्न शिष्य आज भी होगी ?" मुनिने उत्तर दियाः "आज भी ऐसे विनीत शिष्य हैं." इतने मात्र से ब्राह्मण के चित्त का समाधान नहीं हुआ जानकर अपने शिष्य सुन्दरजी को बुलाया. उस समय सुन्दरजी एकान्त में वैठकर सज्झाय-ध्यान कर रहे थे. गुरु के शब्द सुनते ही सुन्दरजी आगये और हाथ जोड़ वन्दना कर खड़े २ आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। मुनि के ब्राह्मण के साथ बातचीत मे लगे होने से कुछ उत्तर नहीं मिला। इससे सुन्दरजी बहुत देर ठहरने के बाद फिर अपनी जगह आ गये. फिर आवाज आई और गुरु के पास जा पहुंचे. और कितनी देर तक खड़े रह कर

वापस आ गये। यों दस पन्द्रह वार वे बुलवाये गये और दस पन्द्रह वार वह गये और आये।

शिष्य का ऐसा विनय देख कर ब्राह्मण को आश्चर्य हुआ और उसने मुनि के वचन सत्य कर मान लिये। फिर जैन धर्म की, महामुनि की और सुन्दरजी की स्तुति की. और बोलाः " हे मुनिराज ! मेरे घर में १००० श्लोक का ग्रन्थ है उसका अर्थ मैं नहीं समझता; कृपा कर आप उसे मुझे समझा दें तो मैं आप के पास हाजिर होऊं. मुनि ने उत्तर दिया कि " वक्त पर देखी जायगी." दूसरे रोज प्रातःकाल में ब्राह्मण ग्रन्थ ले आया तव मुनिने कहा " आज ग्रन्थ हमारे पास रहने दो जो हम देखलें; कल तुम्हें अर्थ वतायेंगे। ब्राह्मण ने वैसा ही किया. तव महामुनि ने ५०० श्लोक अपने शिष्य सुन्दरजी को दिये और वाकी ५०० स्वयं याद किये. रात में प्रतिक्रमण किये वाद एक दूसरे से श्लोक सुन कर दोनों ने सव श्लोक याद कर लिये. फिर जव प्रातःकाल में ब्राह्मण आया तव उसे पुस्तक देकर कहा कि "तुम्हें जो पूछना हो पूछो." ब्राह्मण ने पुस्तक लेकर उसमें का एक श्लोक कहीं से निकाल कर पूछा. तव महामुनि ने श्लोक

मुख से पढ़ कर अर्थ समझाया. इससे ब्राह्मण चकित होकर पूछने लगा कि " हे महामुनि ! यह ग्रन्थ आपको कब से कंठस्थ है ? " मुनि ने कहा " कल ही हम तुम्हारे ग्रन्थ से सीखे हैं " यह बात सुन ब्राह्मण को बडी खुशी हुई। मुनि की स्तुति कर उनके वचन को प्रमाण कर जिनमार्ग का प्रेमी हो गया।

इस तरह श्री धर्मसिंह मुनि ने बहुतसों को ज्ञानी किया वे गुजरात काठियावाड़ में ही विचरे थे. गाठिया से पीडित होने के कारण वे दूर २ का विहार नहीं कर सकते थे. ४३ वर्ष तक दीक्षा का पालन कर १७२८ के आसोज सुद ४ के दिन वे स्वर्गवासी हुए.

इस मुनि ने कितना अभ्यास किया था इसके बारे में खात्री से कहने के लिये मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है तो भी उनका किया हुआ जैन साहित्य का बढावा ही उनके अगाध अभ्यास और शक्ति का विचार बन्धाने के लिए काफ़ी है। भगवतीजी, जीवाभिगमजी, पन्नवणाजी, चन्द्रपन्नती और सूर्यपन्नती इन पांच सूत्रों को छोड कर सत्ताईस ही सूत्र के

टब्बा—इनके सिवाय नीचे लिखे ग्रन्थ भी कम प्रमाण नहीं हैं:—

(१) समवायांग सूत्र की हुंडी।
(२) भगवतीजी का यंत्र।
(३) पन्नवणाजी का यंत्र।
(४) ठाणांगजी का यंत्र।
(५) रायपसेणी का यंत्र।
(६) जीवाभिगम, जंबुद्वीपपन्नती, चन्दपन्नती और सूर्यपन्नती के यंत्र।
(७) व्यवहार की हुंडी।
(८) सूत्रसमावी की हुंडी।
(९) द्रोपदी का चर्चा।
(१०) सामायिक की चर्चा।
(११) साधु समाचारी।
(१२) चन्द्रपन्नती की टीप।

और भी कितने ही ग्रन्थ है।

ऐसा विशाल साहित्य विरसे में देने वाले गुरु का उपकार कौन भूलेगा? परन्तु उपकार न भूलने की परख

कुछ मुख के शब्दों से नहीं हो सकती, वह तो अनुयायियों के वर्ताव से होती है।

मैं मानता हूं श्रीमान् धर्मसिंहजी के अनुयायियोंको अपने को विरसा के योग्य ठहराने के लिये कुछ कर दिखाना चाहिये जिन्ने ग्रंथों के बनाने में अत्यन्त विद्वत्ता की आवश्यकता पड़ी है उन ग्रंथों की शुद्ध प्रतियां करा कर किसी ने अभी तक प्रकाशित करने की दरकार न की. चन्द्रपन्नती और सूर्यपन्नती ये ऐसे कठिन सूत्र हैं कि जिनमें बड़ों बड़ोंकी चोंच नहीं गड़ती। ऐसे गंभीर विषय को सरल करने के लिये श्रीमान् ने-धर्मसिंहजी ने 'टीप' (Notes) बनाई है; परन्तु इनका लाभ अभी तक बड़े २ संदूकों के सिवाय और किसी को नहीं मिलता यह बड़े खेद की बात है। द्रौपदी की शास्त्रानुसार चर्चा द्वारा, प्राचीन जैनों में मूर्तिपूजा न थी इस बात को साबित करने वाले महामुनि की 'हुंडी' (Pamphlet) आज किसी के जानने में भी नहीं है। 'साधु समाचारी' * या

---

* यह ग्रंथ इस समय दरियापरी गच्छ में नहीं है परन्तु मारवाड तरफ़ के किसी मुनि के पास होना संभव है. श्रीसोभाग्यमल्लजी की 'समाचारी' में इस समाचारी की "शाखा" दी गई है।

साधुओं का कायदा आज बड़े अन्धकार को दूर कर सकता है परन्तु उसे प्रकाशित किया जावे तब न ? संक्षेप में जो श्रीमान धर्मसिंहजी की कृति (Works) प्रकट किया जावे तो केवल संघ को ही नहीं बल्कि सब भव्य जीवों को बहुत लाभ होवे, इतना ही नहीं जैन धर्मकी कीर्ति में भी वृद्धि होगी. हम पूर्ण रीति से चाहते हैं कि ऐसा समय जल्दी ही आवे।

श्रीमान् पूज्य धर्मसिंहजी के अनुयायी।

श्री धर्मसिंहजी के पाट पर उनके बाद उनके शिष्य सोमजी ऋषि हुए। इसके बाद तीसरे पाट पर मेघजी ऋषि हुए। फिर (४) द्वारकादासजी (५) मुरारजी (६) नाथाजी (७) जयचन्द्रजी और (८) मुरारजी ऋषि हुए।

श्री मुरारजी के शिष्य सुन्दरजी के ३ शिष्य थे। (१) नाथा ऋषि (२) जीवनजी ऋषि (३) प्रागजी ऋषि। तीनों प्रभावशाली थे। श्री मुरारजी की मौजूदगी में

हो सुन्दरजी के गुजर जाने से उनके पाट पर नाथाजी ऋषि बैठे।

(९) नाथाजी ऋषि के ४ शिष्य हुए: शंकरजी, नानचन्दजी, भगवानजी, और खुशालजी: चारों विद्वान थे।

(१०) नाथाजी के गुरु के भाई जीवन ऋषि।

(११) श्री प्रागजी. इनका इतिहास जानने योग्य है. ये वीरमगाम के भावसार रणछोड़दासजी के बेटे थे. पहले तो ये सुन्दरजी का उपदेश सुनकर बारह व्रतधारी श्रावक हुए. और आखिरकार कितनेक वर्ष तक श्रावक पर्याय पालन करे बाद 'खराखरी के खेल' रूप दीक्षा अंगीकार करने को तत्पर हो गये. परन्तु उनके मा बाप ने उन्हें रोका इससे उन्होंने भीख के टुकड़े मांगकर खाना शुरू किया। सूरत में दो महीने भीख मांगकर खाने से मा बाप ने अपने से बिटला हुआ समझकर दीक्षा की परवानगी दे दी। बाद १८३० में भारी ठाठ से इन्होंने दीक्षा ले ली. इन्होंने सूत्र—सिद्धान्त अंग—उपांग का अभ्यास किया और बड़े प्रतापी हुए। अपने गुणों से इन्होंने पूज्य पदवी पाई,

शोकनजी, मोतीजी, झवेरजी, केशवजी, हरि ऋषि, पानाचंद आदि इनके १५ शिष्य हुए. अहमदाबाद से नैऋत्य में ७ कोस पर विसलपुर एक गांव है वहां के दृढ़वर्मी श्रावकों के अर्ज करने से पूज्य वहां पधारे। इन्होंने प्रांतिज, ईडर, वीजापुर, खोरालु वगैरा क्षेत्रों में फिर कर धर्म को फैलाया और अन्त में पैर में दर्द हो जाने के कारण विसलपुर में २५ वर्ष तक निवासकर १८९० में स्वर्ग गमन किया। इनके समय में अहमदाबाद में इस धर्म के मुनि कदाचित ही आते थे; क्योंकि चैत्यवासियों का जोर ज्यादा था और इससे बहुत परिसह सहन करने पड़ते थे। यहां तक कि कोई श्रावक इस धर्म की क्रिया पालन करता हुआ जान पड़ता तो उसे जाति बाहर कर दिया जाता था। इस स्थिति का सुधार करने के लिये प्रागजी ऋषि अहमदाबाद आये और सारगपुर तलिया की पाल में गुलाबचंद हीराचन्द के मकान पर उतरे। इनके उपदेश से गिरधर शंकर. पानाचंद झवेरचंद, रायचंद्र झवेरचद और उनके कुटुम्बवालों को इस धर्म की श्रद्धा हुई। इन श्रावकों ने मुनियों की मदद और अपनी उदारता से इस शहर में धर्म का प्रचार किया।

परन्तु इससे मंदिरमार्गी श्रावकों में ईर्पा उत्पन्न हुई, आखिर संवत् १८७८ में दोनों ओरका मुकद्दमा कोर्ट में पहुंचा। सरकार ने दोनों में कौन सच्चा इसका इनसाफ करने के लिये दोनों ओर के साधुओं को बुलवाया। इस ओर से पूज्य श्री रूपचंदजी के शिष्य श्री जेठमलजी वगैरा २८ साधु उस सभा में रहने को चुने गये। साम्हनेवाले पक्षकी ओर से वीरविजय आदि मुनि और शास्त्री हाजिर हुए थे। मुझे जो याद मिली है उससे मालुम होता है कि "मूर्ति-पूजकों का पराजय हुआ; चेतन पूजकों का जय हुआ।" शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिये जेठमलजीकृत 'समकीतसार' पढ़ना चाहिए।

उक्त शास्त्रार्थ की याद में इस पक्ष के केप्टन श्री जेठमलजी ने शास्त्रानुसार 'समकितसार' ग्रन्थ रचा और सामनेवाले पक्ष की ओर से उत्तम विजय ने एक 'ढुंढक मत खंडन रास' नाम से ९७ कड़ी का 'रासडा' बनाया है! 'समकीतसार' के २३ फार्म में सूत्र पाठ अर्थ और दलीलें भरी हुई हैं। तब १ फार्म के रासड़े में विजयजी ने प्रतिपक्षियों को ढेढ, कुत्ते, गधे, बहन को व्याहनेवाले,

ऊंट, कुमति, चोर, बन्दर आदि शब्दों का उदारतापूर्वक उपयोग कर अपनी लायकी दिखलाई है। इस कूड़े करकट में गिरने लायक रासड़े में से सार खींचने से मुझे तो इतना ही मिला कि:—

(१) १८७८ के पोस सुद १३ के दिन मुकद्दमे का जजमेंट (फैसला) मिला और

(२) प्रतिपक्षियों के लिखने मुजबः—"जेठो रिख आव्योरे, कागल वांची करी; "पुस्तक बहु लाव्यो रे; गाडूं एक भरी।"

इससे सिद्ध होता है कि जेठमलजी का पठन पाठन बहुत ही बढ़कर था, और प्रतिस्पर्धी जब गाली गिलोज करने में वीर थे तब ये शास्त्रों के ज्ञान में 'मस्त' थे।

दोनों पक्ष अपनी जीत और दूसरे की हार प्रकट करते हैं। परंतु किसी प्रकार के लिखित प्रमाण के अभाव में मैं किसी प्रकार की टीका करने को प्रसन्न नहीं हूं। हां इतना अवश्य चाहूंगा कि दोनों ओर के कोई संशोधक, वृद्ध पुरुष या साधुजी (१) मुकद्दमे का नंबर (२) तारीख माह और

सन् (३) मुकद्दमे का सबब (४) पक्षकारों के नाम व गांव (५) जजका नाम (६) फैसले की नक्ल या सार और जहां तक बने पक्षकार और गवाहियों का सवाल जवाब; इनमें से थोड़ी बहुत भी हकीकत इकट्ठी करेंगे। ऐसी हकीकत को अच्छी तरह तलाश किये बाद ही हाल जाहिर करने का इरादा है। यह इसलिये नहीं कि किसी को हारा जीता कहकर हारनेवाले की निन्दा की जाय—क्लेश बढ़ाया जाय; परन्तु इसलिये कि यह एक ऐतिहासिक घटना है इसे छोडी नहीं जा सकती। इतना ही नहीं बल्कि इससे दोनों पक्ष को अच्छी शिक्षा भी दी जा सकेगी।

झगड़े को दूर कर अब हम भागजी के समय की एक उत्तम परिपाटी को देखें और इतिहास को आगे बढ़ावें। श्री भागजी मुनि के समय में उनके समुदाय के ७५ साधु जी और अनेक साध्वीजी विद्यमान थे, परन्तु वे एक आम्नाय में विचरते थे। एक ही 'मास्टर' के हुक्म को वे 'तेहेत' (तथ्य) मानते थे इससे संप अच्छा रहता था। तेरे पंथ में अब भी ऐसा ही व्यवहार है। अब रोज २ इस बातकी जुरूरत मालूम होती जाती है; स्थानकवासी

या साधुमार्गी जैन धर्म का उपदेश करनेवाले सब गच्छों को फिर इसी चाल—रूढीको ग्रहण करना चाहिए।

(१२) शंकर ऋषि (१३) खुशालजी (१४) हर्षसिंहजी (१५) मोरारजी (१६) झवेरजी (१७) पुंजाजी (१८) भगवानजी (१९) मलुकचंदजी (२०) हीराचंदजी (२१) पाट पर श्रीरघुनाथजी महाराज विराजे, विरमगांव के रहनेवाले भावसार, पिता डाह्याभाई, माता जवलबाई, जन्म १९०४ संवत् १९२० के महासुद १५ के दिन पूज्य श्री मलूकचंदजी स्वामी के पास गांव कलोल में दीक्षा ली। वढवाण निवासी गोकलभाइ लघुभाइ तथा अहमदावाद निवासी वृजलाल मूलचंद इन दोनों ने वढवाण में चतुर्विध संघ के साम्हने १९४० के फागुन सुद १ बुधवार के दिन आचार्य पद दिया।

पूज्य श्री इस समय विद्यमान हैं। आपका स्वभाव शान्त है।

इस समुदाय में ३५ साधुजी और ५८ आर्याजी इस समय विद्यमान हैं।

पूज्य श्री ने समय को पलटा हुआ देख धार्मिक उन्नति के लिये कुछ नियम कायम करने के लिये इसी साल (१९६५ के पोस में) साधु सभा भरी थी, और कितने ही सुधार के नियम कायम किये (जो अभी तक पाले नहीं जाने लगे.)

दूसरे धर्मसुधारक (Martyr) श्रीमान् लवजी ऋषि।

मैं कह गया हूं कि संवत् १६८५ में श्रीमान धर्मसिंहजी सुधारक हुए और १६९२ में श्रीमान् लवजी हुए. इन दोनों के सिवाय उसी अर्से में तिसरे धर्म सुधारक (१७१६) में और हुए. इन में से पहले का और उनके अनुयायियों का हाल लिख चुके अब दूसरे के विषय में जो हाल मुझे मालुम हुए हैं वे प्रकाशित करता हूं.

सूरत के एक लखपत्ति दशा श्रीमाली बनिया वीरजी वहोरा की बेटी फूलबाई का लवजी नामक पुत्र था. यह बड़ा चंचल था. यती वज्रांगजी के पास शास्त्राभ्यास किया। धर्म की बारीक २ बातों पर ध्यान देने से उन्हें जान पड़ा,

कि वर्तमान समय के यति शास्त्रोक्त व्यवहार का पालन नहीं करते. और विचार आया कि मैं स्वय शुद्ध धर्मका प्रचार करूंगा. परन्तु उनके दादाने वज्रांगजी के पास ही दीक्षा लेने की फरज डालने से पहले तो यतिपन स्वीकार किया फिर जैसे धर्मसिंहजी और शीवजी ऋषि के बीच में शुद्धाचार के लिये वार्तालाप हुआ था वैसे इन दोनों गुरु शिष्यों में चर्चा होने से (दो वर्ष यतिपन पाले बाद) लवजी ने भी यति से साधुपन स्वीकार किया। अपने साथ भाणोजी और सुखोजी यति को भी साधु बनाया। खम्भात में अपने आप दीक्षा ली दीक्षा की साल के बारे में दो मत प्रचलित हैं; मेरे मन में १६९२ संवत् में दीक्षा ग्रहण की मालुम होती है परन्तु एक पट्टावली में मेरे पढ़ने में आया है १७०५ में श्री लवजी ने दीक्षा ली।

खंभात में श्रीमान् लवजी ऋषि का उपदेश सुन कर बहुत मनुष्य उनकी तारीफ करने लगे। परन्तु उनकी यह कीर्ति स्वयं उनके नाना (संसार पक्ष के) वीरजी वोरा से ही सहन नहीं हुई। आपने " कुल गुरु " से ज्ञान पाकर एक मनुष्य कुछ और तरह की प्ररूपणा करे यह उन से कैसे

सता जावे ? उन्होंने खंभात के नवाब को गुप्त रीति से लिखा कि लवजी को गांव में न रहने देना चाहिए। नवाब ने उस चिट्ठी को पढ़ ऋषि को अपने डेरे के पास रोक रक्खा। ऋषि, आर्तध्यान और रौद्रध्यान का विचार भी न कर धर्म ध्यान करने लगे पच्छाय करने लगे। यह देखकर बेगम ने कहा:-" ऐसे लोगों को नाराज करने में कुछ सार नहीं है " इससे मुनि को छोड़ दिये। वहां से विहार कर मुनि कलोदरा होते हुए अहमदाबाद आये और ओसवालों में से बहुतसों को धर्म ग्रहण कराया। इस समय कालुपुर के दशापोरवाड श्रावक सोमजी ने २३ वर्ष की उम्र में इनके पास दीक्षा ली।

मेरे पास की एक पट्टावली में लिखा है कि ये चारों मुनि लवजी, भाणोजी, सुखाजी, सोमजी स्थंडिल भूमि से पीछे लौट रहे थे उस समय इन में के एक मुनि पीछे रह गये। उन्हें कुछ यति मिले। ये यति रस्ता बतलाने के बहाने मुनि को अपने मन्दिर में ले गये और तलवार से मार कर वहीं मुनि के शवको गाड़ दिया। जब दूसरे साधुओं ने उस साधु की तलाश की तब एक सोनी के कहने से सब समा-

चार मालूम हुए । श्रीमान् लवजी ऋषि ने ये सब कठिनाईयां वज्र की छाती कर सहन की और कोई प्रकार के वैरको हृदय में स्थान नहीं दिया; उलटा उत्तेजित हुए श्रावकों को उन्होंने रोका और समझाया कि " धर्म सहन करने में है, लड़ने में नहीं " और साथ ही सांसारिक और पारमार्थिक धर्म का भेद समझाया। सारी दुनियां को–८४०००० जीवा जूण के जीवों को हमें आत्मवत्–अपने तुल्य ही समझना है तो फिर हमें समझना चाहिए कि हमारी आत्मा के सब रूप हैं । इन रूपों में से यदि किसी से अपराध हो तो और उस का बदला लें तो वह हमें ही भारी पड़ेगा, क्योंकि वह भी हमारा ही रूप है। कैसी सुन्दर फिलासफी ? कैसा श्रेष्ठ धर्म ! कैसी जगहित कारक शिक्षा !

मुनि श्री अब बुरानपुर गये । यहां उनके श्रावक कदाचित कुछ ज्यादा नुकसान पहुंचावे ऐसे डर से श्री संघ ने २५ घर को अपने से अलग कर दिया । यहां पर मुझे वस्तु स्थिति का हाल बतलाना जुरूरी है । धर्म कैसी कठिनता से पालन होता है ? सच्चे जिज्ञासु कैसे दृढ़ और सहनशील होते हैं ? यह जानने का अच्छा मौका है। १० [illegible]

के सामने श्रीमान् लवजी के अनुयायी केवल २५ घर थे ! प्रबल पक्ष ने इनको यहां तक तकलीफ पहुंचाई कि कुओं पर पानी न भरने देने का, धोबी नाई के द्वारा इनका काम न होने देने का ख़ास इन्तिज़ाम किया था। इस समय इन २५ घरों में जो श्रीमन्त थे उन्होंने बाकी के मनुष्यों की पैसे की पूरी २ सहायता की। जब विपत्ति असह्य हो पड़ी तब इन पचीसही घरों के अग्रेसर कपड़े लत्ते लेकर दिल्ली अर्ज़ करने को गये। वे बहुत दिनों बाद वहां पहुंचे। परन्तु वे वहां जाकर बादशाह से मिले उसके पहले ही प्रतिपक्षियों के वकील ने शाह के कान भर रक्खे थे और ऐसा प्रबन्ध कर रक्खा था कि इन लोगों की बादशाह से मेल मुलाकात ही न होने पावे। इतने में ही दैवयोग से वहां के काजी का बेटा सांप के काटने से—डस लेने से मरने की तैयारी में था। उसे इन पचीसों में से १ ने नमोकार मन्त्र के प्रभाव से आराम कर दिया इससे काजी खुश हो गया। और उसने कचहरी में जा बादशाह से सब हाल कहे। बादशाह ने मुनासिब कारवाई का हुक्म दिया। फौरन काजी एक फौज लेकर उन २५ श्रावकों के साथ अहमदाबाद आया। मन्दिर

में खोद कर देखने से साधु का शव निकल आया इससे काजी को वड़ा क्रोध आया, उसने मन्दिर को खोद फैंकने का हुक्म दिया। परन्तु उन २५ श्रावकों की विनय सुन इस विचार को छोड़ दिया। और इस धर्म को अङ्गीकार कर सख्त हुक्म दिया कि इस धर्म के किसी भी मनुष्य को कोई कुछ हानि न पहुंचा सके। सुना गया है कि "पार्श्वस्तुति" आदि कितनी ही स्तुतियां इनकी वनाई हैं। इसके बाद ही गुजरात में इस धर्म का प्रचार हुआ।

महा पुरुष श्री लवजी ऋषि अपने शिष्य श्री सोमजी ऋषि को पाट पर विठला कर संथारा कर स्वर्गगामी हुए। श्री सोमजी ऋषि बुरानपुर गये। वहां पर उन्हें कहानजी नाम के शिष्य का लाभ हुआ। इन कहानजी ऋषि के नाम का समुदाय अभी दक्षिण में मौजूद है। (दक्षिण हैदरावाद में विचरते हुए वाल ब्रह्मचारी मुनि श्री अमोलख ऋषिजी जिन्होंने " जैन तत्वप्रकाश " नाम का वडा ग्रन्थ वनाया है इसी समुदाय में हैं।)

छठ, छठ, के पारणा करते हुए सोमजी ऋषि बुरानपुर के पास गये वहां किसी यति की खटपट से एक रंगरेज ने

जहर मिला हुआ लड्डू इन्हें वोहरा कर जीव लिया। जब इसका हाल सब को मालूम हुआ तब यतिओं के आचरण से उनके अच्छे २ भक्तों की भी श्रद्धा हट गई इतना ही नहीं उलटा वे साधुमार्गी बन गये। ऊपर लिखी पट्टावली के सिवाय एक दूसरी पट्टावली में यह लिखा है कि यह विष भरा लड्डू स्वयं लवजी को दिया गया।

दरियापुरी समुदाय की एक पट्टावली जाहिर करती है कि श्रीमान् लवजी ऋषि श्रीमान् धर्मासिंहजी से अहमदाबाद में मिले थे परन्तु छहकोटी आठ कोटी सामायिक संबन्ध में, आयुष्य क्षय होने की मान्यता में—इस तरह की कुछ २ बातों में मत भेद होने से दोनों एक न हो सके। इस मुनि का परिवार गुजरात व मालवा में है। उनके कुल साधु आदि की याददास्ती न मिलने से यहां नहीं लिखी; मिलने पर दूसरे भाग में प्रकाशित होगी।

तीसरे धर्म सुधारक श्रीमान् धर्मदासजी ।

तीसरे धर्म सुधारक श्रीमान् धर्मदासजी थे । आज तक इनकी सच्ची हकीकत जाहिर करने का किसी ने यत्न नहीं किया । जो कुछ हाल मिलते हैं वे पूरे नहीं हैं । कितने ही वृत्तान्त दन्त कथा के ऐसे हैं । इन सब में से मुझे जितना ठीक मालूम हुआ उसका सार यहां पर लिखता हूं ।

इस महात्मा को भी यतिओं का सड़लपन अच्छा न लगा और इसलिये वे सच्चे साधु की तलाश में निकले । ये अहमदाबाद के पास के सरखेज गांव के भावसार थे । इनके पिता का नाम जीवण कालिदास था । इन्हें एकलपात्री साधु की श्रद्धा थी । ये धर्मसिंहजी और लवजी ऋषि से मिले । परन्तु वहां भी इनका चित्त स्थिर नहीं हुआ । चित्त क्यों न स्थिर हुआ इसका रहस्य तो सर्वज्ञ प्रभु जानें बाकी हम जैसे सामान्य मनुष्य तो ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि पहले दो मुनियों में उन्हें या तो पूर्ण शुद्धता न मालूम हुई होगी

या अपना अलग ही समुदाय कायम कर ज्यादा नाम हासिल करने की इच्छा हुई होगी। दोनों में से कोई भी कारण क्यों न हो परन्तु इससे हमें शर्म आता है। तीव जबरदस्त आचार्य एका कर इकठे न रह सके और दो दो चार २ बोल की भिन्नता के कारण को लेकर अपने अलग २ वाडे भर लिये, मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार इस तरकीब से जैन धर्म का बड़ा नुकसान हुआ। इस तीन के तरह सो भेद पड़े! जब संस्थापक ही एकता की कीमत को न समझ सकते हों तो उनके अनुयायियों को क्या दोष देना ?

इतना इतिहास लिखे बाद मैं पढ़ने वालों का ध्यान एक बात पर खींचना चाहता हूं कि "स्थानकवासी" या "साधुमार्गी" जैन धर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ—जब से यह धर्म अस्तित्व में आया तब से आज तक यह जोर शोर पर था ही नहीं—अरे इसके कुछ नियम ही नहीं थे। यतिओं से अलग हुए और मूर्ति पूजा को छोड़ा कि "ढूंढिया" हुए यह विचार—मत इस धर्म के लिये प्रसिद्ध था। जैसे एक भाषा का व्यवहार करने से अलग २ प्रान्त में रहनेवाली भी मनुष्य जाति एक प्रजा (Nation) कही जा सकती है। परन्तु

भारत में एक प्रजा है ही नहीं, वैसे ही एक रचना से चलने वाले अलग २ गांव के संघ और साधु कभी इस में न थे और न हैं। जिसकी मर्जी आवे वही " और सब अनाचारी हैं और मैं ही केवल शुद्ध हूं इसलिये मैं अकेला ही विचरूंगा " ऐसा कह कर अलग संघाडा कायम करले और वह भी स्थानकवासी समझा जावे ! 'प्रजा' पन में जैसे एक ही भाषा चाहिए वैसे धर्म में एक ही प्रकार की रचना चाहिए। जैसे भारत में एक भाषा नहीं है वैसे ही स्थानकवासी जैन धर्म के लिये एक ही प्रकार की गोठवण नहीं है (प्रभु ! यह स्थिति जल्द परिवर्तित हो !) इसीसे सब अपनी डेढ चांवल की खिचड़ी जुदा ही पकाते हैं !

दन्तकथा है कि धर्मदासजी ने दीक्षा ली उसी रोज कुम्हार के यहां से गोचरी में राख ली, वह कुछ पात्र में गिरी, बाकी की हवा में उड़ गई। यह बात उन्होंने धर्मसिंहजी से कही, उन्होंने इस कौतुक का खुलासा किया कि इससे यह बात सूचित होती है कि तुम्हारे बहुत शिष्य होंगे और चारों ओर फैल जायंगे। इनके ९९ शिष्य हुए। लींबडी समुदाय की पट्टावली में लिखा है कि तेरापन्थी,

मारवाड़--मेवाड़--पंजाब--लींबडी--बोटाद--सायला--ध्रांगध्रा--चुडा--कच्छ--गोंडल के संघाडे इसी वृक्ष की शाखायें हैं। इसके विरुद्ध जब तक कोई हाल प्रमाणित न हो जाय तब तक मैं इस वृत्तान्त को सत्य समझता हू। इस समुदाय की पट्टावली परसे कुछ मुद्दे नीचे प्रकट करता हूं।

इस पट्टावली के कहने के मुआफिक धर्मदासजी ने १७१६ में अहमदाबाद के बाहर बादशाह की वाड़ी में दीक्षा ली (हम को इस बात का प्रमाणित अभिमान है कि सब प्रताप हमारे अहमदाबाद का है !)

इनके समुदाय के रघुनाथजी महाराज के समय में उनके शिष्य भीखमजी ने अलहदा हो तेरापंथ चलाया इस पंथ के लिये ऐसी दंतकथा कही जाती है कि भीखमजी मुनि आहार पाणी वहर लाये उसे खुला ही छोड़दिया अचानक गर्म पानी में ऊंदरा गिर कर मर गया इस पर गुरु ने उपालंभ दिया। शिष्य ने कहा:--" मैंने इसे नहीं मारा; आयुष्य पूर्ण हो जाने से वह मर गया उसको मैं क्या करूं ? " आखिर यह साधु १८१५ के चैत्र सुद ९ शुक्रवार के दिन (वार तक लिखा हुआ है !) १३ साधुओं को साथ लेकर अलग हो गये

और तेरा पंथी कहलाये । उन्होंने ऐसी प्ररूपणा की: "मारते जीव को रोके--छुडावे तो पाप लगे" ! मेरा मत है कि दिगम्बर मत के बारे में जैसी गप्प घड ली वैसे ही यह तेरा पंथ के जन्म के बारे में घडी हुई गप्प है । वैसे ही मारते जीव को छुडाने में पाप मानने वाली बात भी तेरा पंथ पर तोहमत रक्खा गया होना चाहिए । जब तक मैं तेरा पंथी किसी विद्वान् से मिल कर इस सम्बन्ध की उसकी दलीलें न सुन लूं तब तक इस बात को नहीं मानता । हम लोगों में ऐसी प्रथा हो गई है कि अपने सिवाय सब को मूर्ख--सबको नीचे--सबको पापी ठहराने के लिये चाहे जैसी बातें घड लेते हैं । हिन्दुस्थान के हरेक धर्म में थोडा बहुत ऐसा धांधल होती है । जो तेरा पंथ के स्थापक इस बारे में कि " कैसे सम्बन्ध में मारते जीव को नहीं छुडाना ? " कुछ बुद्धिग्राह्य खुलासा कर सकते हों तो हम उनकी निन्दा नहीं कर सकते । सामान्य मनुष्य रज का गज--बात का बतंगड कर डालते हैं और साधुओं से अज्ञ मनुष्यों को फटा लेते हैं, ईर्ष्यालु झुंड खड़ा कर देते हैं । इसलिये " सेकेंड हेंड "

खबरों पर विश्वास न कर जब तक स्वयं अनुभव न हो जाय मैं तो कभी विश्वास न लाऊंगा।

१३ साधुओं में से रूपचन्दजी को बारह साधुओं ने गुरु किया। परन्तु न जाने क्यों दुसरे ही साल रूपचन्दजी ने इस गच्छ को छोड दिया। वैसे ही १८३६ में पालनपुर के श्रावकों ने भी इस मत को त्याग दिया।

" बाईस टोला. "

श्रीमान् धर्मदासजी के ९९ शिष्यों में से ९८ मारवाड मेवाड–पंजाब की ओर विहार कर गये और " बाईसटोला " के नाम से प्रख्यात हुए। यद्यपि एक छपी हुई पट्टावली में ऐसा लिखा है परन्तु मुझे पंजाब की मुसाफरी में वहां के मुनिवरों से जो हाल मालूम हुए हैं वे और तरह के हैं। उन्हें मैं एक अलग ही प्रकरण में लिखूंगा। ९९ में से ९८ शिष्यों ने मारवाड आदि प्रान्त में विहार किया और बडे शिष्य मूलचन्दजी ने अहमदाबाद में रह कर गुजरात में धर्म का प्रचार किया। इनके ७ शिष्य थे, गुलाबचन्दजी, पंचाणजी, बनाजी, इन्दरजी, बनारसीजी और इच्छाजी।

काठियावाड के संघाडे की उत्पत्ति ।
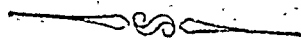
लींबडी संघाडा:—लींबडी के श्रावकों के आग्रह से श्री इच्छाजी स्वामी वहां गये और गद्दी की स्थापना की (१८४५) लिंबडी समुदाय की ओर से छपाई हुई पट्टावली में लिखा है: " इस समय तक इस गांव में सब साधु इकठे रहते थे " पहले के सब साधु इकट्ठे रहते थे और अब इस पराक्रमी साधु के " पवित्र चरणों के " पड़ने से साधुओं में भेद भाव अनैक्य हो पड़ा ! एक से बिगड़े दो वाली बात हुई ! और ऐसे २ मामलों के लिखने में उनके भक्त–'बडा भारी बनाव' समझकर अभिमान समझते हैं। मैं सिर्फ लींवडी समुदाय के लिये ही नहीं कहता, मेरी यह नुकताचीनी सब संघाड़ों के लिये है। विद्वान् साधु हुआ कि " मैं मैं तु तु " चली ही है। पवित्र और विद्वान् पुरुष का काम दो से एक करने का है, न कि एक के दो करने का। संघाड का क्या आशय होना चाहिए ? इस वक्त क्या समझा

जाता है ? और इसका परिणाम क्या हुआ है ? इन प्रश्नों के संबंध में मैं किसी दूसरे मौक़े पर कहूंगा।

गोंडल संघाडाः—श्री पंचाणजी के शिष्य श्री रतनजी तथा श्री डूंगरशी स्वामी गोंडल गये तब से 'गोंडल संघाडा' कहलाया।

बरवाला संघाडाः—श्री वनाजी के शिष्य श्री कहानजी स्वामी बरवाले गये तब से 'बरवाला संघाडा' हुआ।

चुडा संघाडाः—श्री बनारसीजी के शिष्य श्री जय-सिंहजी तथा श्री उदयसिंहजी स्वामी चुडा गये तब से 'चुडा संघाडा' हुआ।

कच्छी संघाडाः—श्री इंदरजी के शिष्य श्रीकृष्णजी स्वामी कच्छ गये वहां दरियापरी संप्रदाय की आवश्यक की प्रति बांचने से उन्हें आठ कोटी मत अच्छा मालुम हुवा इससे उन्होंने आठ कोटी मतकी प्ररूपणा की तबसे कच्छ आठ कोटी समुदाय कहाया।

ध्रांगध्रा संघाडाः—श्रीविट्ठलजी के शिष्य श्रीभूखणजी श्रीभीखणजी स्वामी मोरवी जाकर वहां रहे परन्तु उनके शिष्य वशरामजी ध्रांगध्रा गये और "ध्रांगध्रा संघाडा" कहलवाया।

इन सब काठियावाडी संघाडों के सिवाय श्री इच्छाजी स्वामी के शिष्य श्री रामजी ऋषि लींबड़ी से उदयपुर गये वहां 'उदयपुर संघाडा' स्थापित हुआ ।

इन सब संघाडों के साधु मुनि महाराजाओं की याद, उनका अभ्यास, प्रत्येक गांव के श्रावकों की संख्या आदि के संग्रह करने का काम कान्फ्रेंस आफिस की ओर से हो रहा है इसलिये मैंने इस बारे में माथाकूट करने की आवश्यकता न समझी । कान्फ्रेंस जहां तक होगा इस काम को जल्दी ही पूरा करेगी तब मैं इस पुस्तक का दूसरा भाग प्रकाशित करूंगा उसमें मैं सब विगत पूरी तरह से प्रगट करूंगा ।

जुदे २ समुदाय इस तरह प्रगट हुए । ज्यादा समुदाय या ज्यादा संघाड हों इसका मुझे खेद नहीं है परन्तु जिन २ कारणों से संघाडे हुए मैं उनको पसन्द नहीं करता और ऐसे क्षुद्र कारणों से अलग होकर फिर उसकी प्रशंसा करना दूना अपराध है । सब साधुओं पर काबू रखने के लिए एक ही साधु हो इसकी अपेक्षा, कई विभाग कर एक एक विभाग पर एक एक गुरु हो वह ज्यादा लाभदायक है । परन्तु ये

अलग २ विभाग एक दूसरे से अलग २ न होने चाहिए। जुदाई इस समय खुल्लमखुल्ला वरता जाती है। इसीलिए इतनी नुक्ताचीनी करने की ज़ुरूरत पड़ी है।

अब हम इतिहास की डोर को फिर हाथ में लेते हैं। श्री इच्छाजी स्वामी के गुरूभाई गुलाबचंदजी के शिष्य बालजी, उनके शिष्य श्री हीराजी स्वामी और उनके शिष्य श्री कहानजी स्वामी हुये। इन कहानजी के शिष्य अजरामरजी महाराज ने लींबडी समुदाय को खूब प्रसिद्ध किया। वे जामनगर तावे के पडाणा गांव के बीसे ओसवाल थे। इन्होंने जैन दीक्षा ली उसके पहले उन्हें गुसाईं पंथ के गद्दीधर बनने के लिये कहा गया था परन्तु वे इस लालच में न आये। उसी साल में १८१९ में उन्होंने जैन दीक्षा ली और सूरत जाने के लिये चल दिये। मार्ग में तप गच्छ के श्री पूज्य श्री गुलाबचन्दजी मिले इनसे उन्होंने सूरत जाकर योगशास्त्र का अभ्यास किया। लींबडी समुदाय की पट्टावली के लेखक ने इस यति के उपकार में एक भी शब्द नहीं लिखा। योगशास्त्र जैसे आत्मकल्याणक करनेवाले

विषय का ज्ञान देने वाले का जितना उपकार मानें उतना ही कम। ज्ञान जहां से मिले लेने योग्य है। तपगच्छ के एक यति ने चाहे जिस लिए ही भलाई क्यों न बताई हो परन्तु इसके लिये वह धन्यवाद पात्र अवश्य है।

१८४५ में श्री अजरामरजी आचार्य पदवी पर (लींबड़ी में) बैठे। इनका जन्म १८०९ में हुआ, १८१९ में दीक्षा ली, १८४५ में आचार्य हुए, १८७० में देहोत्सर्ग हुआ।

इनके बाद इनके शिष्य देवराजजी हुए। ये कच्छ--कांडाकरा के रईस थे. इन्होंने १८४७ में कच्छ में विहार किया उस समय कच्छ में आठकोटी की श्रद्धा थी। इस मुनि ने छहकोटी श्रद्धा की प्ररूपणा की, इस बारे में बेहद तारीफ करता हुआ इस संघाडे का एक लेखक लिखता है: "अज्ञानतिमिर दूर कर इन्होंने श्रावकों को आठकोटी भुलाई और छहकोटी अंगीकार कराई." संघाडे के विरुद्ध खड़े होने में मुझे जो कारण मिले हैं उनमें से [illegible] है। भाइयो! कुल ९कोटी, साधु ९कोटी पच्चखाण [illegible] सूत्रके चौथे अध्ययनका सार है) और [illegible] के अनुसार ८ कोटी या ६ कोटी पर [illegible] छहकोटी के प्ररूपणा

करनेवाले कि जो आठकोटी को (थाने विशेष पवित्रता को) अज्ञानतिमिर गिनते हैं इस बात की गेरन्टो दे सकते हैं कि ६ कोटी सामायिक करने वाले सब (अरे दशमांश भी) मन वचन और कार्य से " पाप कर्म न करना, न कराना " इस नियम को पूर्ण रीति से पालते हैं; सामायिक के समय स्वयं--छहकोटी का उपदेश देकर आठकोठी को अज्ञान तिमिर कहने वाले मुनि ही 'रास' बांचते हैं, राम कृष्ण के पराक्रम पढ़ कर रस उत्पन्न करते हैं जिससे सुनने वाले प्रसन्न होते हैं " इतना ही नहीं " पराक्रमों की तारीफ भी करते हैं और कोई २ भी पराक्रमी को शाबासी देने के साथ पापी को मार मार करने का भी विचार करते हैं. अर्थात् मनको स्थिर करना थोड़े मनुष्यों से ही हो सकता है। कितनेक तो सामयिक में व्यापार की व्यवस्था करते हैं! तो ऐसों को छहकोटी प्रत्याख्यान देना भी क्या ' अज्ञान तिमिर ' नहीं कहा जायगा ? ऐसों को तो " वचन और काया से पाप कर्म न करना न कराना ऐसा चार कोटी प्रत्याख्यान ही देना चाहिये। तैरना सीखनेवाले किसी मनुष्य को दरिया में कूदने की सलाह देनेवाला क्या उसका खून करने का अपराधी

नहीं होता ! शक्ति से ज्यादा बोझ नहीं डाला जा सकता । सामायिक ९ कोटी हो सकती है. ८ कोटी, ६ कोटी, ४ कोटी भी हो सकती है . अमुक समय तक समभाव धारण करने के लिये यह व्रत है. समभाव के उतरते चढते भेद हैं. ज्यादा शक्तिवाला मनुष्य ऊंची से ऊंची सीढी पर चढ सकता है और कोई पहली सीढी पर ही ठहर सकता है ।

आठ कोटी खराब है और छकोटी सही है ऐसा कहना भ्रममात्र है । इन्होंने तो उलटा " अज्ञान तिमिर " बढाया है । आठ कोटी ही सामायिक हो सकता है ऐसी हट करने वाले भी लोगों को बहकाते हैं । ऐसी खींचातान अपना पांडित्य दिखाने को होती है, धर्म के लिये नहीं । वस्तुः कच्छ में छह कोटी की मान्यता के महात्मा श्री देवराजजी ने छह कोटी मत स्थापित किया उनके देवजी स्वामी आदि शिष्य हुए ।

१८७९ में देवराजजी महाराज ने काल किया और फिर भाणजी स्वामी गद्दी पर बैठे (१८५५ में दीक्षा और १८८३ में देहोत्सर्ग.) फिर देवजी स्वामी हुए । ये बीकानेर के लुवाणा थे । १० वर्ष की उम्र में १८६० में दीक्षा

ली, १८८६ में गद्दी पर बैठे। ऐसे परिवार बढते २ संवत् १९१५ में श्री देवजी स्वामी के गुरु भाई श्री अवचलजी तथा उनके शिष्य हेमचन्दजी १३ साधुओं के साथ धर्मशाला में उतरे और जुदा ही संघाड़ा कायम किया। इसका नाम 'संघवी का संघाडा पड़ा।

लिंबडी समुदाय के पूज्य श्री दीपचन्दजी महाराज विद्वान् और शांत स्वभावी मनुष्य थे। इन्होंने १९०१ में दीक्षा ली. १९३७ में आचार्य पद पाया. इस समय इस समुदाय का काम और समुदायों से अच्छा चलता है। इसमें कुल १०० एक साधु साध्वी मौजूद हैं। पूज्य पदवी श्री मेघराजजी महाराज और आचार्य पदवी श्री देवचन्दजी महाराज भोग रहे हैं। दोनों गुणवान हैं। इस संघाडे ने एक दो वर्ष पहले "साधु परिषद्" भर कर सुधारे दाखिल किये थे और सडे हुए अंग को दूर फैंकने का नमूना दिखाया था। इसके कितने ही मुनि जाहिर उपदेश करने को प्रसिद्ध हैं। संस्कृत के अभ्यास के लिये दूसरे संघाडाओं से इस संघाड़े में ज्यादा ध्यान दिया जाता है।

प्रकरण ५।

पट्टावली पर पंजाब पक्ष का प्रकाश।

सन् १९०७ के दिसम्बर में मैं पंजाब की मुसाफरी को गया था। इस ओर के स्वधर्मी और साधुओं की रहन गत का अभ्यास करने का मुझे मौका मिला था। उस समय ऐतिहासिक हेर ढूंढने के लिये भी प्रयत्न किया था। हालांकि मैं पंजाब में बहुत कम ठहरा था, इससे ज्यादा छान बीन न कर सका परन्तु थोड़े बहुत घंटों को भी मैंने व्यर्थ न जाने दिया। पट्टावली के बारे में जो कुछ पंजाब में मेरे जानने में आया वह यहां पर लिखता हूं।

आज तक गुजरात में यही सुन पड़ता है कि लोंकाशाह ने जैन धर्म का सुस्वाद आशय फिर चक्षु किया और उनके पुनरुद्धार किये हुए धर्म के लोग स्थानकवासी–साधुमार्गी ढुंढिया कहाये। परन्तु पंजाब में कुछ और ही सुना। वहां जो कुछ सुना वह कितने अंश में सच है वह फिर देखेंगे;

परन्तु जो कुछ सुना उसे वैसा का वैसा ही प्रकाशित करना मैं अपना फर्ज समझता हूं, कि जिससे संशोधक सार खींच लें।

मेरे खयाल में आता है कि जैन धर्म में जो ८४ गच्छ कहे जाते हैं वे साधुओं के नहीं, यतिओं के हैं, उन यतिओं में के कितने ही पुरुषों ने क्रिया उद्धार कर 'साधु' नाम धारण किया परन्तु गच्छ के नाम तो के के वे बने रहे। स्थानकवासी—साधुमार्गी या ढूंढिया ये कोई गच्छ नहीं है क्योंकि ये यति के भक्त नहीं है, परन्तु साधु के अनुयायी हैं—अर्थात् कंचन और कामिनी को बिलकुल छोड देने वाले, जैन सूत्रों की आज्ञानुसार शुद्ध क्रिया करने वाले साधुओं का कभी अभाव नहीं हुआ (और भगवान वीर के निर्वाण के बाद २१००० वर्ष तक अभाव होना संभव ही नहीं है) श्री महावीर स्वामी से आज तक कोई काल ऐसा नहीं बीता जिस में साधु रहा ही न हो. पंजाब की पट्टावली कह रही है कि श्री महावीर से ६१ वीं "पाट पर श्री ज्ञानजी ऋषिजी हुए। इन्होंने १५०१ में दीक्षा ली. इनके पास ४५ भव्यों ने दीक्षा ली थी। इनको पहला उपदेश अहमदाबाद में "गृहस्थ" लोंकाशाह ने दिया था। श्री लोंकाशाह ने

सद्ज्ञान पाया परन्तु वृद्धता के कारण दीक्षा न ले सके इस से उन्होंने अपने सिखाये हुए ४५ उम्मेदवारों को ज्ञानजी के पास भेज कर दीक्षा दिलवाई। इन ४५ में से ४ चार ने समुदाय चलाये। इनके नामः (१) भानु लुणाजी (२) भीमजी (३) जगमालजी (४) हरिषेनजी था। श्री भानु लुणाजी से २५ वीं पीढी पर महात्मा श्री अमरसिंहजी पंजाबी हुए। इनके पाट पर इस समय महात्मा पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज विराजमान है (श्री महावीर स्वामी से ८८ वीं पीढी पर पूज्य श्री अमरसिंहजी हुए.)

श्री भानु लुणाजी आदि ४ साधुओं में से ४ संप्रदाय चली। इन में से इस समय नीचे लिखे मुजब साधुजी मौजूद हैं:—

(१) मारवाड़ में श्री कहानजी ऋषि के प्रसिद्ध काव्य-कार श्री तिलोकचन्दजी के शिष्यों में से श्री दौलत ऋषिजी (जिनका चौमासा अभी हाल में राजकोट में हुआ था.) हैद्राबाद में विराजमान बाल ब्रह्मचारी श्री अमोलक ऋषिजी तथा पूना जिले में विचरते हुए श्री रत्न ऋषिजी वगैरा विद्यमान हैं।

(२) दरियापुरी श्री धर्मसिंहजी जो पहले श्री पूज्य थे फिर साधु मालवे में तालपंपाल की ओर विचरते थे उनके शिष्य ।

(३) पूज्य श्री मलूकचन्दजी लाहोरी जिनके शिष्य पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज पंजाब में विचरते हैं और जिनके आधीन १०० साधुजी और ६० आर्याजी विराजते हैं ।

(४) पूज्य श्री अजरामरजी महाराज जिनकी संप्रदाय के विद्वान् मुनि ऋषिराजजी के मृत्यु के समाचार कुछ समय पहले प्रसिद्ध हो चुके हैं । इस संप्रदाय में इस समय श्री मंगलसेनजी आदि साधु यमुनापार आगरे की ओर विचरते हैं ।

इन चारों समुदाय और श्री महावीर स्वामी के बीच में अटूट सम्बन्ध चला आता है अर्थात् बीच में खोट कभी नहीं पड़ी । हाँ, किसी समय, साधुओं की संख्या न कुछ सी ही रह गई थी । यतिओं के बढ़ जाने से ये सब लोगों को नजर न आते थे परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि साधु

रहे ही नहीं । श्री भगवती सूत्र के २५ वें शतक में लिखा है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र का अंतराय ६३००० वर्ष तक चलेगा, छठा आरा २१००० वर्ष, १ आरा २१००० वर्ष, २ आरा २१००० वर्ष, यों ६३००० वर्ष छेदोपस्थापनीय चारित्र देखने में न आयगा। फिर श्री पद्मनाभजी तीर्थंकर के शासन में वह चारित्र ठीक होगा और बराबर चलेगा. केवल ऊपर कहे हुए ६३००० वर्ष समय में ही वह नहीं रहेगा । इस हिसाब से इस काल में उक्त चारित्र का बंद होना संभव ही नहीं है । दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के मुआफिक भी पंचम आरा के अंततक वह चारित्र रहेगा (सुदृष्टि तरङ्गिणी)

(२) दरियापुरी श्री धर्मसिंहजी जो पहले श्री पूज्य थे फिर साधु मालवे में तालपंपाळ की ओर विचरते थे उनके शिष्य ।

(३) पूज्य श्री मलूकचन्दजी लाहोरी जिनके शिष्य पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज पंजाब में विचरते हैं और जिनके आधीन १०० साधुजी और ६० आर्याजी विराजते हैं ।

(४) पूज्य श्री अजरामरजी महाराज जिनकी संप्रदाय के विद्वान् मुनि ऋषिराजजी के मृत्यु के समाचार कुछ समय पहले प्रसिद्ध हो चुके हैं । इस संप्रदाय में इस समय श्री मंगलसेनजी आदि साधु यमुनापार आगरे की ओर विचरते हैं ।

इन चारों समुदाय और श्री महावीर स्वामी के बीच में अटूट सम्बन्ध चला आता है अर्थात् बीच में खोट कभी नहीं पड़ी । हां, किसी समय, साधुओं की संख्या न कुछ सी ही रह गई थी । यतिओं के बढ़ जाने से ये सब लोगों को नजर न आते थे परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि साधु

रहे ही नहीं । श्री भगवती सूत्र के २५ वें शतक में लिखा है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र का अंतराय ६३००० वर्ष तक चलेगा, छट्ठा आरा २१००० वर्ष, १ आरा २१००० वर्ष, २ आरा २१००० वर्ष, यों ६३००० वर्ष छेदोपस्थापनीय चारित्र देखने में न आयगा। फिर श्री पद्मनाभजी तीर्थंकर के शासन में वह चारित्र ठीक होगा और बराबर चलेगा. केवल ऊपर कहे हुए ६३००० वर्ष समय में ही वह नहीं रहेगा। इस हिसाब से इस काल में उक्त चारित्र का बंद होना संभव ही नहीं है । दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के मुआफिक भी पंचम आरा के अंततक वह चारित्र रहेगा (सुदृष्टि तरङ्गिणी)

पंजाब की पट्टावली की नक़ल ❀
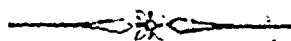
(१) श्री सुधर्मा स्वामी (२) श्री जंबु स्वामी (३) श्री प्रभव स्वामी (४) श्री स्वयंभव स्वामी (५) श्री यशोभद्र स्वामी (६) श्री संभूत विजयजी (७) श्री भद्रबाहु स्वामी (८) श्री स्थूलीभद्र स्वामी (९) श्री

❀ पहले कहे मुताबिक मैं इस पट्टावली के बारे में अपनी कुछ राय नहीं दे सकता। मूर्ति पूजकों के अलग २ साधुओं की बनाई पट्टावली जैसे एक दूसरी से जुदी ही है वैसे ही खेद की बात है कि साधुमार्गी साधुओं की बनाई हुई पट्टावलियां भी कदाचित् ही कोई मिलती हों। अपनी २ महिमा बढ़ाने के लिये प्रत्येक समुदाय ने ऐसी २ दन्तकथायें जोड़ दी हैं कि सत्य के समीप पहुंचना अनेक पट्टावलियों को इकट्ठा कर छान बीन किये बिना महा कठिन है। तो भी पूर्ण सत्य-ज्ञान होना तो असंभव है। ऐसा होने पर भी पट्टावली (ठीक) तैयार करना बड़ा जुरूरी है और इस काम को मुनियों को अवश्य करना चाहिए। पूर्व समय में धर्म के नाम से बहुत किंवदन्ती चल पड़ी और इतिहास न लिखा गया, इसी की ये सब गड़बड़ है।

आर्य महागिरी (१०) श्री बलसिंह स्वामी (११) श्री सुवन स्वामी (१२) श्री वीर स्वामी (१३) श्री संछडाल स्वामी (१४) जीतवर स्वामी (१५) श्री आर्य समद स्वामी (१६) श्री नन्दला स्वामी (१७) श्री नागहस्त स्वामी (१८) श्री रेवंत स्वामी (१९) श्री सिंहगणजी (२०) श्री थंडलाचार्य (२१) श्री हेमवंत स्वामी (२२) ,, नागजिन स्वामी (२३) ,, गोविंद स्वामी (२४) ,, भूतादिन स्वामी (२५) ,, छोहगण स्वामी (२६) ,, दुसगणि स्वामी (२७) ,, देवार्धिक्षमाश्रमण (२८) ,, वीरभद्र स्वामी (२९) ,, संकरभद्र स्वामी (३०) ,, जसभद्र स्वामी (३१) ,, वीरसेन स्वामी (३२) ,, वीरग्रामसेन स्वामी (३३) ,, जिनसेन स्वामी (३४) ,, हारसेन स्वामी (३५) ,, जयसेन स्वामी (३६) श्री जगमाल स्वामी (३७) श्री देवर्षिजी (३८) श्री भीमऋषिजी (३९) श्री कर्मजी स्वामी (४०) श्री राजर्षिजी (४१) श्री देवसेनजी (४२) श्री शंकसेनजी (४३) श्री लक्ष्मीलभजी (४४) श्री रामर्षिजी (४५) श्री पद्मसूरिजी (४६) श्री हरिसेनजी (४७) श्री कुशलदत्तजी (४८) श्री

जीवन ऋषिजी (४९) श्री जयसेनजी स्वामी (५०) श्री विजय ऋषिजी (५१) श्री देवर्षिजी (५२) श्री सुरसेनजी (५३) श्री महासुरसेनजी (५४) श्री महासेनजी (५५) श्री जयराजजी स्वामी (५६) श्री गजसेनजी स्वामी (५७) श्री मिश्रसेनजी स्वामी (५८) श्री विजयसिंहजी स्वामी (संवत् १४०१ में हुए " देवडा " जाति) (५९) श्री शिवराज ऋषिजी (पाटन के कुणवी १४२७ में हुए) (६०) श्री लालजीमल (मानसके " वाफणा " रहीस १४७१ में हुए) (६१) श्री ज्ञानजी ऋषि, (सेराडा के सुराणा जाति; १५०१ में दीक्षा ली) (६२) श्री भानु लुणाजी, भीमजी, जगमालजी तथा हरसेनजी ये ४ और ४१ पुरुष यों ४५ पुरुष श्री लोंकाशाह के उपदेश से साधु हुए थे (संवत् १५३१ में जब भस्म ग्रह उतरा और दया धर्म की उदय पूजा हुई) (६३) श्री पुरुजी महाराज (६४) श्री जीवराजजी (६५) श्री भावसिंहजी (६६) श्री लघुवरसिंहजी (६७) श्री यशवंतजी (६८) श्री रूपसिंहजी (६९) श्री दामोदरजी (७०) श्री धनराजजी (७१) श्री चिन्तामणिजी (७२) श्री क्षेमकर्णजी (७३) श्री धर्मसिंहजी (७४) श्री नगराजजी (७५) श्री

जयरामजी * (७६) श्री लवजी ऋषिजी (१७०९ में हुए इस वक्त से यतिओं ने " ढूंढिया " नाम अपमान करने के लिये रक्खा) (७७) श्री सोमजी ऋषि (७८) श्री हरिदासजी (७९) श्री वन्द्रावनजी ऋषि (८०) श्री भवानीदासजी ऋषि (८१) पूज्य श्री मलूकचन्दजी लाहोरी (बडे प्रसिद्ध पुरुष हुए) (८२) पूज्य श्री महासिंहजी (बडे परिवार के अग्रेसर और प्रसिद्ध पुरुष हुए) (८३) पूज्य श्री कुशलासिंहजी (८४) श्री स्वामी छजमलजी तपस्वी (पूज्य पदवी कुशालचन्दजी के गुरु भाई श्री नागरमलजी को मिली थी) (८५) श्री स्वामी रामलालजी (८६) पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज (१८९८ के वैशाख वुद २ के

---

* इस जगह मूल प्रति में लिखा है कि गिरिरवजी ऋषि लोंका गच्छ में से निकले परन्तु यह समझ में नहीं आता कि यह इशारा नं० ७५ के साथ है या ७६ के. तथापि इतना जान पडता है कि इन दिनों यतिओं की तादाद बहुत बढ गई थी। और लोंकाशाह के पुनरुद्धार किये हुए धर्म के उपदेशक भी ज्यादा तादाद में पीछे यति हो गये थे और इन यतिओं में से बहुतसों ने शास्त्रोक्त साधु धर्म अंगीकार कर लिया।

दिन दीक्षा ली थी. अमृतसर के औसवाल; समर्थ विद्वान् और प्रतापी थे) (८७) पूज्य श्री रामवक्षजी महाराज (अलवर निवासी २५ वर्ष की उम्र में १९०८ में दीक्षा ली) (८८) पूज्य श्री मोतीरामजी (पूज्य पदवी १९३९) (८९) पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज (१९३३ में दीक्षा ली; १९५१ में पदवी मिली. पूज्य श्री इस समय पंजाव में अमृतसर में विराजमान है.)

इस तरह पंजाव के वर्तमान मुनियों का सम्वन्ध मिलता है। और २ प्रान्तों में विचरते हुए मुनिराजों के पास भी इस तरह संग्रह किया हुआ अपना २ सम्वन्ध होगा तो होगा।

श्री लोंकाशाह ने अपने सिखाये हुए ४५ उम्मीदवारों को श्री ज्ञानजी ऋषि के पास भेजकर दीक्षा दिलाई. इन४५ में से ४ ने संप्रदायें चलाईं, जो ऊपर लिखे मुआफिक प्रसिद्ध हैं। अर्थात् सनातन जैन जल के झरे की ४५ सीरों से कायम रखने वाले उपकारी लोंकाशाह थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उन्होंने किसी को अपना चेला नहीं वनाया और सर्वथा सूखे हुए झरे को सजीवन किया. हां,

इतना कह सकते हैं कि झरा सूखने लग गया था, इधर उधर कहीं जल बहुत ही धीरे धीरे कुछ कुछ बहता था (परन्तु था शुद्ध बिना मेल का) इसी जलको संजीवन रखने के लिये स्वयं 'गृहस्थ' रह कर भी लोंकाशाह ने बड़ी मदद की।

'बाईस समुदाय' के साथ ऊपर लिखी हुई बात का कोई संबन्ध नहीं है. उनका इतिहास—पंजाब के कहने मुआफिक—ऐसा है कि अहमदाबाद के पास जो सरखेज है वहां के भावसार श्री धर्मदासजी ने धर्मज्ञान पाकर अपने आप श्री भगवती सूत्रकी साक्षी से दीक्षा ले ली और ९९ मनुष्यों को दीक्षा दी. धर्मदासजी बड़े पंडित, बड़े बुद्धिमान और बड़े तपस्वी थे. बहुत देशों में विहार कर बहुतों को उपदेश कर धारानगरी में इन्होंने संथारा किया था. इनके ९९ शिष्यों में से २२ ने समुदाय चलाये, जो 'बाईस समुदाय' के नाम से जाने जाते हैं।

इस तरह पंजाब आदि में विचरते हुए पूज्य श्री सोहनलालजी वगैरा ४ समुदाय के साधु २२ समुदाय में नहीं है, यद्यपि न उनकी मान्यता में भिन्नता है और न

इसमें सन्देह है कि चार समुदाय और बाइसटोला ये सब सनातन साधुमार्गी जैन धर्म के प्रवर्तक और नेता हैं। इसके देखने से यह भी मालूम होता है कि गुजरात-काठियावाड़ के साधु लोंकागच्छीय यतिओं को क्यों नहीं योग्य मान देते ? जब उनके इतिहास के साथ लोंकाशाह का कोई संबन्ध ही नहीं है तब वे क्यों अपने को परिग्रहधारी लोंकागच्छीय यतिओं का कृतज्ञ समझें ?

यहां पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'गच्छ' यह नाम जो यतिओं के लिये ही हो तो फिर लोंकागच्छी 'साधु' कैसे कहा जा सकता है ? उत्तर इसका यह है कि गृहस्थ लोंका के उपदेश से जिन्होंने 'साधुता' स्वीकार की थी वे कुछ 'लोंकागच्छी' नहीं कहलाये थे परन्तु उनमें से जो शिथिल होकर 'यति' हो गये थे वे अपने को लोंकागच्छी कहने लगे थे। कुछ भी हो, 'लोंकागच्छ' यह नाम यतिओं के लिये ही है; साधुओं से इसका कोई संबन्ध नहीं है। यद्यपि लोंकाशाह के उपदेश से ही साधु हुए थे यह सच है तथापि वे दीक्षाधारी तो पंचमहाव्रतधारी साधु के पास ही हुए थे और वे साध गच्छ में गिने ही नहीं जा सकते. महावीर स्वामी

के समय में या उसके बाद साधुमंडली के लिये 'गच्छ' नाम था ही नहीं. गच्छ की स्थापना तो १४३६ में हुई है।

४ समुदायवाले बाईस समुदाय से पृथक् होने पर भी वे अपने को संप के लिये बाईस समुदाय के कहलवाते हुए जान पड़ते हैं।

पंजाब में जो कुछ देखने सुनने में आया उससे मैंने यह लिखा है. अभी तक मुझे इनमें बहुत शक है, जिसका समाधान ऐसी बहुत सी हकीकतों पर विवेचन करने से होगा और इसी लिये मैंने यह हाल प्रकट किये हैं। यह हाल किसी को सच्चा झूठा प्रकट करने के लिये नहीं, ऐतिहासिक हेर ढूंढने के लिये जाहिर की है। कोई साधुजी या श्रावक बुरा न मानते हुए अपनी २ मान्यता स्वच्छ लिपि में लिख भेजें (सप्रमाण), जिससे भरोसे का इतिहास बन सकेगा। हमारे साधुजी का कर्तव्य है कि अपने धार्मिक इतिहास में भूल न रक्खें। ऐतिहासिक हेर ढूंढने का काम अवलदर्जे साधुओं का है। यह उनके 'घर' का काम है घर का काम खुद करना चाहिए।

प्रकरण ६

सुधार (Reform का काम इतने से ही खतम होगा क्या ?

मैं कई वार कह गया हूं कि सुधार का काम कभी पूरा ही न होगा। चैत्यवासियों के अंधेर को दूर करने को लोंकाशाह प्रकट हो गये. और लोंकाशाह के वंशजों की अन्धाधुन्धी दूर करने को धर्मसिंहजी, धर्मदासजी, लवजी ऋषि वगैरा प्रकट हो गये; इसी तरह इस वर्ग में फैले हुए अंधेर को दूर करने का मौका है. मैं नहीं कहता कि इस समय नया गच्छ या नया संघाडा निकालने की ज़रूरत है; परन्तु इतना ही कहता हूं कि सुधार करने की ज़रूरत है. अब इसके विषय में कुछ कहता हूं कि वह कैसे करना चाहिए।

किसी भी बीमार का इलाज करने के पहले चतुर वैद्य उसकी बिमारी की तलाश करता है. बिमारी का निदान किये बिना चिकित्सा अनुकूल नहीं होती. वर्तमान समय में

जैन साधुमार्गी मनुष्यों को सुधार की आवश्यकता है और वे सुधार कैसे होने चाहिये इस बात को बतलाने के पहले उनका रोग पहचानने की ज़रूरत है. इस आंतरिक रोग को साफ़ २ कहने की यह जगह नहीं है. (इसके कई कारण हैं) तथापि ज़रूरी बातें यहां लिखूंगा और फिर दवा बताऊंगा और साथ ही इतना भी कह देता हूं कि 'सुधार' की ज़रूरत है तो 'सुधारक' की भी ज़ुरूरत है.

सच्चे हृदय से चिकित्सा करनेवाले प्रत्येक पुरुष को स्वतः मालूम पड़ जायगा कि (१) संघाड़ों के नाम से क्लेस बढ़ गये हैं (२) ज्ञान का शौक कम हो गया है और इससे अनेक ढोंक आते जा रहे हैं (३) सच्चे तत्त्वोपदेशक पर जुल्म किया जाता है (४) आचारशुद्धि की आवश्यकता बहुत कम जन जानते हैं (५) श्रावकों के पास व्यर्थ व्यय कराया जाता है.

इन सब रोगों की दवाइयां दो हैं. एक मालिश करने की और एक पिलाने की अर्थात् बाह्योपचार और आन्तरिक उपचार.

बाह्योपचार नाम 'व्यवस्था' है. हरेक समुदाय के साधु अलग २ फिरे इसकी अपेक्षा सब समुदाय इकट्ठे होकर अपने में से किसी एक प्रभावशाली महा तपस्वी 'मुरब्बी' कायम कर उनकी आज्ञा के अनुकूल सब संघाड़ों के पूज्य अपने २ परिवार को चलावें. जो ऐसा न किया जायगा तो जैन संघ कभी उत्तम स्थिति में न आवेगा और जो साधु ऐसे उत्तम विचार को हंसकर अशक्य बतलायेंगे तो ऐसा सिद्ध होगा कि वे स्वयं स्वेच्छाचारी होना पसन्द करते हैं.

आन्तरिक उपचार ज्ञानका है. ऊपर लिखे मुआफिक व्यवस्था होते ज्ञान की वृद्धि हो सकती है. जब ज्ञानकी तलाश में साधुवर्ग लग जायगा तब उसकी दृष्टि बहुत दूर २ तक फैल जायगी और सत्य कहनेवाले को तथा बुरा भी उत्तम विचार से कहनेवाले को वे शत्रु न गिनकर उसकी बातों में से सत्य को ग्रहण करेंगे. इससे जैनधर्म विशेष प्रकाश में आवेगा.

जो एक 'गुरु' के कायम करने की सलाह को सर्व
असंभव ही समझते हों उनके लिये एक और रास्ता है
हरेक संघाडे के मुनिवरों में से तत्त्वग्राही मुनियों का एक
मंडल स्थापित करना चाहिये. इस मंडल में प्रत्येक संघाडे
का मुनि दाखिल हो सकता है और ऐसा होने पर भी अपने
गुरु और संघाडे को उतने ही मान से देख सकता है. इस
मंडल का कुछ खास नाम रखने की ज़रूरत नहीं है. (जैन-
धर्म मंडल कहने से ही काम चल जायगा) और न इस
बात की ज़रूरत है कि अमुक साधु उस मंडल का है ऐसा
प्रकट किया जावे इन साधुओं में से प्रत्येक को अपनी शक्ति
सत्यकी सेवा में लगाने का व्रत लेना चाहिये. मंडल जो कुछ
सत्य स्वीकार कर ले उसकी हिमायत करने में हर तरह की
जोखम उठाने को तैयार रहना चाहिये उग्र विहार कर चारों
ओर जाग्रति उत्पन्न करना चाहिए. सिर्फ पतली दाल के
खानेवाले बनियों को ही उपदेश न देकर आमतौर पर
पब्लिकको उपदेश करना चाहिये. दिन भर ज्ञान–ध्यान में
रहना चाहिए योगाभ्यास की खास लगन रखना चाहिए.
(जिनसे अभ्यास न हो सके वे भी नीतिका उपदेश करने में

बहुत ही उपयोगी हो सकते हैं.) उन्हें किसी समुदाय-किसी संघाडे के विरुद्ध एक अक्षर भी न कहना चाहिये. वाद विवाद के लिये आये हुए स्वधर्मी या अन्य धर्मी साधु या श्रावक के साम्हने मौनव्रत धारण कर लेना चाहिए. "स्वयं दूसरों के लिये ही जीते हैं और दूसरों की आंख सुधारने से ही अपनी आत्मा की उन्नति होती है" यह सिद्धान्त उन्हें हमेशा सुवर्ण अक्षरों से हृदय में धारण कर रखना चाहिये. ऐसे मंडल में प्रत्येक संघाडे के दो दो तीन२ साधु प्रसन्नता से दाखिल होकर जैसे २ भारी काम करते जायेंगे और दुनिया देखती जायगी वैसे २ ही दुसरे साधु अपने आप मिलते जायंगे. ऐसा होते २ एक दिन ऐसा आयगा (मुझे पूर्ण श्रद्धा है कि राग द्वेष को दूर करने के लिये उत्पन्न हुए ऐसे "जैन मंडल" में ही सब साधु आ जायगे) बाडे में सिर्फ थोड़े से निकम्मे साधु ही भरे रहेंगे. इस तरह धीरे २ धर्म का पुनरुध्धार अच्छी तरह हो सकेगा.

इसकी हलचल शुद्धाचारी, अनुभवी विद्वान् किसी साधुजी को प्रारम्भ करना चाहिये. ऐसे वैसे मामूली साधु का

यह काम नहीं है कि वह इसमें कामयाब हो जावे. मैं स्वयं गुप्त रीति से सेवा करने को तैयार हूं. सलाह देने योग्य मैं नहीं हूं. परन्तु योग्य आत्माओं की आज्ञा पालन करने को तैयार हूं. ऐसी जो हलचल हो वह सर्वथा गुप्त रीति से होनी चाहिये जो कुछ होना चाहिये उसके मुकाबले में, जो कुछ हो सकेगा वह बहुत ही कम होगा. इसलिये जाहिर में 'हां हूं' करने की ज़ुरूरत नहीं है.

सार यह है कि आज तक संघाडे बढाने में धर्म माना गया अब घटाने में धर्म मानना चाहिये. संघाडे कम करने की योजना उपद्रवी नहीं परन्तु शान्त और नीतिमय है. आज सब को नहीं रुचेगी परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि आज नहीं तो कल—पांच—पचास वर्ष में—मेरे दूसरे जन्म में भी अवश्य ही अमल में आवेगा !

ये मेरी आशा पूरी पाडना मुनिवरों के हाथ में हैं. उनके चारित्र पर, उनके विचारों पर, उनकी भूलों पर नुकताचीनी करने का कभी २ मैं उद्धतपन कर जाता हूं ऐसा होने पर भी उन पर मेरी श्रद्धा है. उन पर पांच लाख

जैन व ८४ लाख जीवा-जूण के उद्धार का बोझा है. उन्हें गंभीर होकर बोझा माथे लेना है. संसारावस्था में दो चार या बहुत तो दस–बीस जीवों का ही उन पर बोझा था और उसमें भी ऊबकर दांता कचकच करते थे परन्तु अब तो उन्होंने राजी खुशी से लाखों का बोझ अपने माथे ले लिया है. यदि वे ही उन्हें न उठावेंगे तो क्या सब को कुए में डालेंगे ? क्या मनुष्यात्मा का द्रोह करेंगे ? कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं, मैं श्रद्धालु हूं–अंध श्रद्धा में नहीं परन्तु उत्तम भविष्य की श्रद्धा में मुझे आनन्द मिलता है. मेरे माननीय मुरब्बियों को मैं उलटी सीधी सुनाऊंगा भी, नाराज भी करूंगा, चिडाऊंगा भी (और इसका फल चाहे जैसा कडवा हो मैं हंसते २ चखने को तैयार हूं) परन्तु उनका प्रशंसक कभी मिट न जाऊंगा। इनका सुधार होगा और वह लाखों को सुधारेगा इसका मुझे पूरा विश्वास है वह कभी हटने का नहीं है. इनमें जो गुणी व्यक्ति हैं उन्हें मेरी 'वंदणा' है !

समाप्त.

* श्री वीतरागाय नमः *

श्री जैन पाठशाला वा छात्रालय ब्यावर की रिपोर्ट ।

आज से तीन वर्ष पहिले से ता० १ अगस्त १९२१ ईस्वी से हमारे यहां श्री जैन पाठशाला नाम की संस्था स्थापित हुई, इस में धार्मिक ज्ञान यानि महाजनी हिसाब, बही खाता, हुन्डी, चिट्ठी, आदि की शिक्षा दी जाने लगी ! पाठशाला की उन्नतवस्था देखकर कुछ ही समय बाद बाहर ग्रामों के विद्यार्थियों के वास्ते एक छात्रालय (Boarding) स्थापित करने की आवश्यका प्रतीत हुई इसलिये सम्वत् १९७९ के मिगसर सुदि ३ को छात्रालय स्थापित कर बाहर ग्रामों के लड़कों को भर्ती कर उपरोक्त शिक्षा दी जाने लगी ? लगभग दो वर्ष तक तो इसी प्रकार की शिक्षा चलती रही इस शिक्षा से बाहर के ५५ ग्रामों (मारवाड़, मेवाड़, मगरे अजमेरादि) के लगभग १२० विद्यार्थी लाभ उठा चुके हैं इन में उन विद्यार्थियों की संख्या नहीं ली गई है जो अधुरे मति क्रमस में ही चले गये [ऐसे विद्यार्थियों की भी संख्या बहुत है] बाद सम्वत् १९८१ के चैत्र शुक्ला १ से इस पाठशाला में अंग्रेजी

और संस्कृत शिक्षा का भी स्थापित करना निश्चय हुआ तद्-नुसार १६ सोलह ग्रामों के २७ विद्यार्थी वर्तमान में इस शिक्षा से लाभ उठा रहे हैं। अंग्रेजी में सिर्फ तार का योग्यता पूर्वक पढ़लेना, लिख लेना, छोटी २ चिट्ठीयों का लिखलेना, तथा साधारण तौर से योग्यता पूर्वक बात चीत कर सके। वर्तमान में उपरोक्त विद्यार्थियों को ऐसी ही शिक्षा दी जा रही है और इसी को सरल बनाने के लिये १ किताब लिखी जाकर संस्था की तरफ से छप रही है। यह संस्था फंड [स्थाई रकम] फरनीचर [टेबल, कुर्सी, बैंच,] बिल्डिंग [इमारत] आदि आदिकी कुछ भी परवाह न करती हुई मात्र कोर्स [पाठ्य-क्रम की पुस्तकों को] ही अपना जीवन समझती हुई अपनी योग्यतानुसार धार्मिक, नैतिक, और [व्यवहारिक] शिक्षा दे रही है थोडे ही समय में इतना लाभ होना महान हर्ष का विषय है। और आशा है कि संस्कृत में भी धातु विभक्ती का ज्ञान रखते हुवे विद्यार्थी श्लोकों का अर्थ निकालने में समर्थ होंगे अब जिन २ महाशयों ने इस संस्था को धन से से सहायता देकर इसका पोषण किया है, उन सज्जनों को स-हर्ष धन्यवाद देते हुये उनकी रकम तथा संस्था के खर्च का हिसाब सम्वत् १९८१ के कार्तिक शुक्ला १ तक का नीचे दि-

खाया जाता है। और एक मुश्त ६ महिने की विशेष सहायता देने वाले श्रीयुत् सेठ गिरधारीलालजी अमरराजजी वैशलोर निवासी की उदार वृति के लिये यह संस्था उन्हें हार्दिक धन्यवाद देती है। और जिन सज्जनों ने संस्था की प्रेरणा से योग्य पुस्तकें छपवा कर इस संस्था को भेंट दी हैं उनको भी इस संस्था की तरफ से सहर्ष धन्यवाद दिया जाता है। जिन सज्जनों ने तन मन से संस्था के हितैषी होकर समय २ पर अपनी अमुल्य सलाह से सहायता पहुंचाई है उन सज्जनों की भी यह संस्था आभारी है।

श्रीयुत् सागरमलजी गिरधारीलालजी जिन्होंने अपनी हवेली में छात्रालय के लड़कों के भोजनादि के लिये जगह दे-कर जो सहायता पहुंचाई है उसके लिये यह संस्था सेठजी को हार्दिक धन्यवाद देती है श्रीयुत् मुलतानमलजी जसराजजी खिवेसरा जिन्होंने अपनी हवेली तथा नोहरे में पढ़ाई के लिये व सोने बैठने आदि का जो प्रबन्ध कर इस संस्था को लाभ पहुंचाया है उसके लिये उन्हें संस्था की ओर से हार्दिक धन्यवाद दिया जाता है। जिन २ सज्जनों ने सहायता देकर इस संस्था को आदर्श बनाया है आशा है कि भविष्य में भी इसी तरह संस्था की सहायता पहुंचाते रहेंगे। ॐ शांति शांति

श्रीजैन पाठशाला ब्यावरका खर्च १९२१ ता. १ अगस्तसे १९२४-८ जून तक का खर्च

जमा		खर्च	
३००)	श्रीयुत गिरधारीलालजी अम्मराजजी के बरस ३ के आये	११२६॥-)	मास्टरों की तनखाह
३००)	,, आईदानजी रामचन्द्रजी बोहराका जमा बरस ३ का	१८)	नोकर पानी पिलाने वालेका
१००)	,, हजारीमलजी बनराजजी का	१५२॥≡)॥	लडकांने इनाम की मिठाई तथा पईसा बरस २ माह १० में
२००)	,, शंभूमलजी गंगारामजी का	५६॥-)॥	पानी वाली ने
१००)	,, गाड़मलजी घीसूलालजी का	४१॥=)	पारसल अखबार किताब
७५)	,, जुहारमलजी अम्मराजजी फतेपुर	३३॥≡)॥	छपरो १ तथा परचून जयणा वास्ते खादी
१००)	,, सूरजमलजी दुलराजजी बो०	२५)	प्रति क्रमणकी लिखवाईमें पंडितजी को दिये [दुखमोचनजी को]
५०)	,, सूरजमलजी कन्हयालालजी		
२५)	,, असराजजी देवाडा		
५०)	,, गुलेशमलजी मुथा		
२००)	,, किशनलालजी रूपचन्दजी		
३०)।	,, परचून किताब खाते जमा		
		१४५५)।	
			श्री पोते बाकी ७५)
१५३०)।		१५३०)।	

श्रीजैन पाठशाला की किताबें छपाई का खर्च १९७९ से १९८१ कार्तिक शुक्ला १

२५०) श्रीयुत् मुलतानमलजी हीराचन्दजी
१००) ,, हजारीमलजी जेठमलजी का
१२५) ,, गाढ़मलजी घीसूलालजी
१००) ,, सॉवराजजी छाजेड़
१००) ,, हजारीमलजी बनराजजी
१००) ,, सागरमलजी अम्बराजजी
१५) ,, सोभागमलजी लोढ़ा

७९०)

१५॥।) बाकी लेने

८०५॥।)

६११॥।) शालोपयोगी जैन प्रश्नोतर दोनो भाग ६००० किताब का
७७) फिजूल खर्च किताब छपाई
७) झूटे [मारवाड] संग सभा वास्ते पत्री का छपाई
६२॥) जैन बालोप देश ५०० मंगाई
७॥) पारसल खर्च
४०) प्रतीक्रमण ५०० की जिल्द बंधाई

८०५॥।)

अपने खर्च से किताबें छपाकर जिन्होने संस्था को भेट दी हैं उनकी नामावली

३५८) श्रीयुत् किशनलालजी रूपचन्दजी लूनीयाकी तरफ़ से प्रति क्रमणकी १०००
६०) ,, सॉवराजजी छाजेड तरफ से पीले पन्ने वाली अधुरे प्रति क्रमण १०००
३००) ,, गिरधारीलालजी अम्बराजजी की तरफ से प्रश्नोतर कुसुमावली
३५०) श्री. मुलतानमलजी हीराचन्दजी [बगडी] की तरफ से एतिहासिक नोंन्द १८५०
६०) ,, सॉवराजजी छाजेड की तरफ से अनुपुर्वी ३०००

श्रीजैन छात्रालयका हिसाब १९७९ के मिंगसर सुदि ३ से १९८१ के कार्तिक शुक्ला १

७८६॥-) श्रीयुत् हजारीमलजी जेटमल जी का जमा रोकड ५००) गेहुं ७४-) टीन के २१२॥-)

५५०॥=) श्रीयुत् गिरधारीलालजी अ-मराजजी का मास ८ के खर्च में से कार्तिक शुक्ला १ तक मास २ का खर्च इस हिसाब में लिया गया

११००) श्री विगलूर के पंचों तरफ से सेठ गिरधारीलालजी की मारफ़त आया.

३०१) श्रीयुत् छोगमलजी छिम्मत-मलजी का जमा

३०१) श्रीयुत् श्रीचन्दजी अग्राणी का जमा

श्री वोर्डिंग खर्च १९७९ से ८१

३७८५)॥। भोजन खर्च

३४१=) रसोई वाली की तनखाह

६६=) वरतन मांजने वाले को

६४)॥। खींवराजजी विगलूरद्वीप ले गया

१७०॥=) लडके लेने गये सो खर्च

७०॥)॥ किताबें अखवार कारड लिफा

४८॥)॥ रोशनी खर्च

१५२-)॥ थाली लोटा लालटेन तथा छपरों के वनाने में

१६)॥ परचून खर्च

१३६) मास्टर खर्च गांव की पाठ-शाला वंद होने वाद वोर्डिंग खर्च में मंडने लगा पहिले

३०१) ,, पूनमचन्दजी गेमराज-
जी का जमा
३०१) ,, हजारीमलजी विरदी-
चन्दजी सुराणा
१५१) ,, किल्याणमलजी तेज-
मलजी मुथा
१००) ,, गणेशमलजी मालू
१००) ,, नथमलजी फूलचन्द-
जी बोहरा
१०१) ,, नवलमलजी सूरजम-
लजी यादगीरी
२५१) ,, लालाजी नेतारमजी
रामनारायनजी
३१) ,, विरदीचन्दजी चावेल
७०॥।-) ,, चस्तीमलजी राजमल-
जी बोहरा
१९५)॥ श्री वटाव खाते जमा खींचा-

पाठशाला का खर्च में मं
डता था

४८८०।≡)॥

७४)॥ श्री पोते बांकी

४९५४॥)॥

जमा	लेखे
७४)॥ बोर्डिंग का	१५॥) किताबें में
७५) पाठशाला	१५॥)
१४९)॥	१३३)॥ श्री पोते बांकी

१४९॥

जजी पूनमचन्दजी जसराजजी
तथा और कोई का जमा

१६८) श्री विद्यार्थी लडकों की तरफ् से भोजन खर्च का जमा

१२५) श्रीयुत् सेठजी अगरचन्दजी भेरुदानजी का जमा शास्त्र वगेरह लाये सो आपके फरमाने मुजब पाठशाला में जमा किये अंदाज़ से

५०) भीनासर वाले स्वधर्मी बंधु के जमा शास्त्र वगेरा लाये सो उनके फरमाने मुजब पाठशाला में अंदाज से जमा किये

आंकड़ा।

कुल जमा	कुल लेखे
४६५४॥)॥ बोर्डिंग	४८८०।≡)॥॥ बो०
१५३०)। पाठशाला	१४५५)। पाठ०
७६०) किताबों में	८०५।॥) किताबें
७२७४॥)॥॥	७१४१।)

१३३।)॥॥ श्री पोते बाकी

फाल्गुण सुद १ तक तो खर्च सेठजी गीरधारीलालजी अभराजजी का है आगे भविश्याधीन।